आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

का

'अनामदास का पोथा'

कश्मीर विश्वविद्यालय को पूर्व पी-एच० डी० (हिन्दी) की परीक्षा
(१९८०) के हेतु प्रेषित शोध-प्रबन्ध

निदेशिका :—
डॉ० मोहनी कौल
रीडर, स्नातकोत्तर हिन्दी - विभाग
कश्मीर विश्वविद्यालय
श्रीनगर, (कश्मीर) भारत।

प्रेषक :—
आशुतोष कुमार कौल
एम० ए०

प्रमाण - पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध आशुतोष कुमार कौल ने मेरे निर्देशन में विभाग में कार्य करके स्वयं लिखा है ।

(मोहिनी कौल)
एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर, हिन्दी विभाग, कश्मीर
विश्वविद्यालय, श्रीनगर, कश्मीर

विषय - सूची

पृष्ठ

प्रथम अध्याय :- 1-49

(क) उपन्यास की परिभाषा ।

(ख) प्रेमचन्द - पूर्व हिन्दी उपन्यास ।

(ग) प्रेमचन्द और उनका समसामयिक उपन्यास साहित्य ।

(घ) प्रेमचन्दोत्तरी हिन्दी - उपन्यास ।

द्वितीय अध्याय :- 50-83

(क) आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी व्यक्तित्व एवं कृतित्व ।

(ख) आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्यिक चिन्तन

(ग) आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का सांस्कृतिक चिन्तन ।

(घ) आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का ऐतिहासिक चिन्तन ।

तृतीय अध्याय :- 84-109

(क) आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय ।

(ख) आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का जीवन दर्शन

चतुर्थ अध्याय ११०-१८२

(क) 'अनामदास का पोथा' का कथानक

(ख) 'अनामदास का पोथा' उपन्यास का तात्विक विवेचन ।

पंचम अध्याय १८३-२११

(क) 'अनामदास का पोथा का औपनिषदिक आधार ।

(ख) 'अनामदास का पोथा' उपन्यास का दार्शनिक विवेचन ।

(ग) 'अनामदास का पोथा' प्रेरणा और प्रभाव

'अनामदास का पोथा' एक मूल्यांकन २१३-२२०

उपसंहार २२१-२२४

सहायक ग्रन्थ सूची २२५

प्रथम अध्याय

अ) उपन्यास की परिभाषा ।

ब) प्रेमचन्द - पूर्व हिन्दी उपन्यास ।

स) प्रेमचन्द और उनका समसामयिक उपन्यास साहित्य ।

द) प्रेमचन्दोत्तरी हिन्दी उपन्यास ।

प्रथम अध्याय

क) उपन्यास की परिभाषा :-

उपन्यास का शब्दार्थ है - उप = निकट, न्यास = रखना । अर्थात् सामने रखना, इसके द्वारा उपन्यासकार पाठक के निकट अपने मन की कोई विशेष बात, कोई नवीन मत रखना चाहता है ।

उपन्यास का अँग्रेज़ी पर्यायवाची शब्द 'नावल' का तात्पर्य 'न्यू' अर्थात् नवीन से है, इसका विकास लैटिन शब्द 'नाविल' से हुआ है ।

'उपन्यास' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में आज ग्रहण किया जाता है, वह मूल 'उपन्यास' शब्द से पूर्णतः भिन्न है । संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग नाटक की सन्धियों के उपभेद के लिए हुआ है ।

उपन्यास शब्द का प्रयोग हिन्दी में सम्भवतः सन् 1871 में एक कथा पुस्तक 'मनोहर - उपन्यास' के रूप में हुआ है । डा0 माताप्रसाद गुप्त इसी पुस्तक को हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों में शीर्ष स्थान देते हैं ।[1]

1- हिन्दी पुस्तक साहित्य - डा0 माता प्रसाद गुप्त

उपन्यास की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं किन्तु कोई भी परिभाषा पूर्णरूपेण सभी अंगों और सभी पहलुओं को सीमा के दायरे में बाँध नहीं सकी है ।

उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द के अनुसार उपन्यास की परिभाषा :- 'मैं उपन्यास को मानव जीवन का चित्रमात्र समझता हूँ । मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है ।' अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है जिस प्रकार सृष्टि में मानव का महत्व सर्वोपरि है, उसी प्रकार उपन्यास में मानव - चरित्र ही सबसे महत्व पूर्ण वस्तु है ।

स्वयं आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने 'उपन्यास' की परिभाषा के विषय में लिखा है, 'नाना जाति की जितनी पुस्तकें उपन्यास नाम से प्रचलित हैं, उन सब को दृष्टि में रखकर अगर उपन्यास की परिभाषा की जाए तो एकमात्र परिभाषा शायद् यही होगी कि 'उपन्यास' उस कथा कहानी को पुस्तक को कहते हैं जिसको उसका लेखक या प्रकाशक उपन्यास कहना पसन्द करें ।

डा० मूलर के अनुसार : 'उपन्यास मूलतः मानवी अनुभव का निरूपण है चाहे वह यथार्थ हो अथवा आदर्श और इस प्रकार उपन्यास में अनिवार्यतः जीवन की आलोचना रहती है ।'[1]

हेनरी जेम्स के अनुसार :- 'उपन्यास अपनी व्यापक परिभाषा में जीवन का वैयक्तिक और प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब है ।'[2]

1- हिन्दी उपन्यास का शास्त्रीय विवेचन - डा० श्रीनारायण अग्निहोत्री ।
2- हिन्दी उपन्यास का शास्त्रीय विवेचन - वही --

'उपन्यास शतरंज के नशे के समान मनोरंजन और विलास का एक साधन - मात्र है जो मनुष्य को बेकार बना देता है ।'[1]

'उपन्यास जीवन की प्रतिकृति है, इसलिए उसका सम्बन्ध मानव - व्यापारों, क्रिया - कलापों और घटनाओं से होता है ।'[2]

उपन्यास मानव- जीवन की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों का उसके मन के वातावरण और समाज का एक काल्पनिक खड़ा चित्र है । जीवन की अभिव्यक्ति का सच्चा माध्यम उपन्यास ही है । उपन्यासकार मानव जीवन की मीमांसा करता है, वह मानव मन के अन्तरतम में प्रविष्ट होकर उसकी आन्तरिक अनुभूतियों का विश्लेषण करता है । उपन्यासकार अपने उपन्यास में व्यक्ति के विकास में सहायक सम्पूर्ण वातावरण, समाज और देशकाल का चित्रण करता है । 'उपन्यास' वस्तुतः इतिहास, जीवनी और कविता के बीच की वस्तु है । उसमें जहाँ कथा के साथ जीवनी के सदृश व्यक्तित्व - विश्लेषण और इतिहास के सदृश घटनाओं का चित्रण होता है, वहाँ दूसरी ओर उपन्यास में कविता की कल्पना, भावों की पुष्टता, शैली का सौन्दर्य और रोचकता भी वर्तमान रहती है ।

उपन्यास के विषय - विस्तार की परिधि इतनी विशाल है कि उसमें सभी प्रकार की घटनाएँ तथा सभी वर्ग के व्यक्ति सरलता पूर्वक रह सकते हैं, इसकी व्यापकता शास्त्रीय श्रृंखलाओं में नहीं समा पाती जिससे उसकी सभी कड़ियाँ एक साथ टूट गई हैं । महाकाव्यों की भाँति वह अतीत कालीन

1- हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद - डा0 त्रिभुवन सिंह

2- - वही -

राजाओं एवं राजवंशों तक ही सीमित नहीं रहता है और न तो नाटकों की भाँति उसे केवल धीरोदात्त नायक की ही आवश्यकता है । उपन्यास - साहित्य के लिए अतीत वर्तमान का न तो कोई बन्धन है फिर न तो साधारण जन के लिए किसी प्रकार की रोकथाम है ।

शिवनारायण श्रीवास्तव "कहानियों' के विकसित रूप को ही उपन्यास कहते आए हैं, किन्तु ऐसा कहने में काफी संकोच सा होता है कि उपन्यास कहानी का ही विकसित रूप है । कहानी और उपन्यास साहित्य की दो विधाएं हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपन्यास कहानी से होते हुए आया है किन्तु विकसित रूप में ही वह साहित्य की सर्वथा नवीन विधा मानी जाने लगी ।[1]

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उपन्यास को हिन्दी साहित्य के लिए एक नयी वस्तु माना है, उन्होंने लिखा है - 'उपन्यास इस युग की बहुत ही लोकप्रिय साहित्य है, शायद ही कोई पढा लिखा नौजवान इस जमाने में ऐसा मिले जिसने दो - चार उपन्यास न पढे हों, यह बहुत ही मनोरंजक साहित्य माना जाने लगा है । आजकल जब किसी पुस्तक को बहुत मनोरंजक पाया जाता है, तो प्रायः कह दिया जाता है कि इस पुस्तक में उपन्यास का सा आनन्द मिल रहा है ।'[1]

इस प्रकार अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने साहित्य की इस विधा को परिभाषा में बाँधने का प्रयत्न किया है, किन्तु कोई भी किसी एक रूप को स्थिर न कर सका है । हम कह सकते हैं कि यदि उपन्यास की [redacted]

1- हिन्दी उपन्यास : सिद्धान्त और विवेचन - डा० मदनलाल शर्मा ।

परिभाषा करनी हो तो सबसे उत्तम परिभाषा उपन्यास का इतिहास ही होगा ।

ख) प्रेमचन्द - पूर्व हिन्दी उपन्यास :-

प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास साहित्य की मर्यादा सन् 1877 से 1918 ई0 तक मान्य हो सकती है । सन् 1877 ई0 में श्रद्धाराम फिल्लौरी ने 'भाग्यवती' नामक सामाजिक उपन्यास लिखा था जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई थी । विषय वस्तु की दृष्टि से इसे हिन्दी का प्रथम आधुनिक उपन्यास अवश्य कहा जा सकता है । सन् 1918 में प्रेमचन्द का 'सेवासदन' उपन्यास प्रकाशित हुआ । यह हिन्दी उपन्यासों के विकास - क्रम में निश्चित रूप से नए युग के सूत्रपात का द्योतक है । अतः प्रेमचन्द - पूर्व युग के अन्तर्गत सन् 1877 ई0 से 1918 ई0 तक के प्रकाशित उपन्यासों का अध्ययन करना समीचीन है ।

कुछ भी हो, हिन्दी में भारतेन्दु युग से ही उपन्यास शब्दा सर्वस्वीकृत होकर अंग्रेज़ी के 'नावेल' के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था और आज इसके शाब्दिक अर्थ की ओर न जाकर सीधे नावेल का अर्थ ग्रहण होता है ।

हिन्दी में उपन्यास रचना की प्रेरणा बंगला साहित्य से प्राप्त हुई । भारतेन्दु युगीन हिन्दी उपन्यासों पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है - 'नाटकों और निबन्धों का ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंग - भाषा की देखा - देखी का नए ढंग के उपन्यासों की ओर ध्यान जा चुका था । इस समय तक बंग भाषा में बहुत अच्छे उपन्यास निकल चुके थे । अतः साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिए उनके अनुवाद आवश्यक

प्रतीत हुए । स्पष्ट है कि हिन्दी लेखकों का नए ढंग के उपन्यासों की रचना का ओर ध्यान आकृष्ट हुआ । इसमें सन्देह नहीं कि 'भाग्यवती' की रचना (सन् 1877 ई0) के पूर्व ही बंगला में सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार के कई उपन्यास लिखे जा चुके थे ।'

भवानीचरण वन्द्योपाध्याय का 'नव बाबू - विलास' (सन् 1815) और टेकचन्द ठाकुर का 'आलालेल घरेर दुलाल' (सन् 1857) बंगला में बहुत लोकप्रिय हुए थे । किशोरीलाल गोस्वामी के 'चपला' उपन्यास (सन् 1903 ई0) में नव बाबू विलास की छाया स्पष्ट है । ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में बंगला में बंकिम बाबू को आशातीत सफलता प्राप्त हुई थी । उनके तीन उपन्यास 'दुर्गेश नन्दिनी', 'मृणालिनी', 'युगलांगुरीय' हिन्दी में अनूदित हुए थे ।

किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासों पर बंकिम का प्रभाव स्पष्ट लक्षित है । बंगला में भी उपन्यास रचना की मूल प्रेरणा अंग्रेजी साहित्य से प्राप्त हुई थी । इस प्रकार हिन्दी में उपन्यास रचना की मूल प्रेरणा प्रत्यक्ष बंगला और अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी से प्राप्त हुई । 'परीक्षा गुरु' (1882) पर तो सीधे अंग्रेजी का प्रभाव स्वीकार किया गया है । इसके अतिरिक्त यदि प्रारम्भिक उपन्यासों पर ध्यान दिया जाए तो उनमें बीज रूप से भारत का प्राचीन कथा - साहित्य भी प्रेरक - तत्व के रूप में कार्य करता हुआ लक्षित होता है ।

प्रेमचन्द - पूर्व युग के प्रमुख उपन्यासकार श्री किशोरीलाल गोस्वामी

ने अपने उपन्यासों को सामाजिक, ऐतिहासिक तथा घटनात्मक - इन तीनों वर्गों में रखा है । बंगला के प्रारम्भिक उपन्यासों का वर्गीकरण भी लगभग इसी आधार पर किया गया है । तत्कालीन बंगला उपन्यासों के तीन वर्ग - सामाजिक, ऐतिहासिक तथा अद्भुत किए गए हैं । गोस्वामी जी के घटनात्मक उपन्यास बंगला के अद्भुत उपन्यासों के समकक्ष रखा जा सकते हैं । शिव - नारायण श्रीवास्तव ने इस युग के उपन्यासों को सामाजिक, ऐय्यारी - तिलस्मी, जासूसी, ऐतिहासिक तथा भाव - प्रधान इन पाँच वर्गों में रखा । इस वर्गीकरण में ऐय्यारी - तिलस्मी और जासूसी उपन्यास तो घटनात्मक वर्ग के हैं । हाँ, भाव - प्रधान उपन्यासों के एक नए वर्ग का संकेत अवश्यक मिलता है ।

शुक्ल जी ने 'भावों या मनोविकारों' का प्रगल्भ और वेगवती व्यंजना वाले भाव - प्रधान उपन्यासों को एक पृथक् कोटि निर्धारित की है और बाबू ब्रजनन्दन सहाय को बंग भाषा के अनुकरण पर हिन्दी में भी ऐसे उपन्यासों की रचना में प्रवृत्त बताया है । श्रीकृष्णलाल ने रचना शैली के आधार पर वर्गीकरण करते हुए तत्कालीन समस्त उपन्यासों को चरित्र - प्रधान और कथा - प्रधान इन दो वर्गों में रखा है ।

चरित्र प्रधान उपन्यासों में उन्होंने श्री लज्जाराम मेहता, हरिऔध और मन्नन द्विवेदी के कुछ उपन्यासों की चर्चा की है और कथा - प्रधान उपन्यासों में कुल छः भेद : तिलस्मी, साहसिक जासूसी, प्रेमाख्यानक, ऐतिहासक एवम् पौराणिक किए हैं । इस वर्गीकरण में सामाजिक वर्ग को महत्व नहीं

दिया गया है । इस युग के अधिकांश सामाजिक उपन्यास कथा- प्रधान हो है अतः उन्हें चरित्र प्रधान उपन्यासों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता । श्री कृष्णलाल ने जिन उपन्यासों को चरित्र - प्रधान माना है, सच्चे अर्थों में वे कथा - प्रधान सामाजिक उपन्यास ही हैं ।

माता प्रसाद गुप्त ने इस युग के उपन्यासों को चार प्रमुख धाराओं में विभक्त किया है - सामाजिक, ऐतिहासिक, ऐय्यारी - तिलस्मी और जासूसी । पुनः उन्होंने सामाजिक उपन्यासों के चार उपभेद किए हैं - उद्देश्य प्रधान, रस प्रधान, वस्तु - प्रधान और चरित्र - प्रधान ।

इधर कैलाश प्रकाश ने अपने शोध - प्रबन्ध 'प्रेमचन्द - पूर्व हिन्दी उपन्यास' में तत्कालीन उपन्यासों को तीन वर्गों - सामाजिक, ऐतिहासिक और घटनात्मक में रखा है । उनके अनुसार घटनात्मक वर्ग बड़ा व्यापक और अनिश्चित है ।

वस्तुतः प्रेमचन्द - पूर्व युग में हमारी साहित्य - चेतना दो प्रमुख प्रवृत्तियों से परिचालित थी - एक प्रवृत्ति मनोरंजन की थी, दूसरी सामाजिक धारणा की । जिन उपन्यासों को भाव - प्रधान कहा गया है वे भी सामाजिक चेतना से अछूते नहीं हैं । मनोरंजन का तत्व न्यूनाधिक हर युग के कथा - साहित्य का प्रेरक होता है । प्रेमचन्द - पूर्व सामाजिक जागरूकता से प्रेरित उपन्यास भी मनोरंजन के तत्व से सर्वथा रहित नहीं हैं । इसलिए विषय को दृष्टि में रखकर किया गया किशोरी लाल गोस्वामी का वर्गीकरण ही अध्ययन के लिए सुविधाजनक प्रतीत होता है ।

सामाजिक उपन्यासकार और उपन्यास :-

प्रेमचन्द - पूर्व सामाजिक उपन्यासकारों में श्रद्धाराम फिल्लौरी, लाला श्री निवासदास, बालकृष्ण भट्ट, जगमोहन सिंह, राधाकृष्ण दास, लज्जाराम शर्मा, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, ब्रजनन्दन सहाय और सन्नन द्विवेदी प्रमुख हैं ।

श्रद्धाराम फिल्लौरी ने एक ही उपन्यास 'भाग्यवती' लिखा । उन्होंने 'भाग्यवती' के रूप में ऐसी हिन्दी पोथी लिखी जिसके पढ़ने से भरत - खण्ड की स्त्रियों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा प्राप्त हो सके ।

लाला श्री निवासदास का उपन्यास 'परीक्षा गुरु' आपकी भाषा में नई चाल की पुस्तक है । यह रचना उपदेश - प्रधान है ।

बालकृष्ण भट्ट के दो उपन्यास नूतन ब्रह्मचारी तथा 'सौ अजान एक सुजान' प्रसिद्ध हैं । जगमोहनसिंह का 'श्यामा - स्वप्न' श्यामा और श्याम सुन्दर की प्रणय कथा का एक काल्पनिक चित्र है ।

लज्जाराम शर्मा के 'धूर्त रसिकलाल' 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' 'आदर्श - दम्पति', 'बिगड़े का सुधार' तथा आदर्श हिन्दू आदि कई उपन्यास लिखे । 'धूर्त रसिकलाल' उपन्यास में रसिकलाल की धूर्तता दिखायी गई है । वह अपने मित्र सेठ सोहनलाल को अनेक व्यसनों में फंसाकर उनका सर्वस्व हरण करता है किन्तु अन्ततः वह पकड़ा जाता है और दण्ड पाता है । कहना चाहें तो इसे चरित्र प्रधान उपन्यास कह सकते हैं । स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' में रमा और लक्ष्मी नामक दो सगी बहनों की कहानी

है । रमा अँग्रेजी शिक्षा से प्रभावित है और लक्ष्मी भारतीय संस्कृति के अनुकूल पतिव्रता नारी का जीवन व्यतीत करती है । 'आदर्श - दम्पति' में पति - पत्नी दोनों भारतीय संस्कृति के अनुसार एक दूसरे को प्रेम करते हुए आदर्श जीवन व्यतीत करते हैं ।

श्री किशोरीलाल गोस्वामी प्रेमचन्द - पूर्व युग के सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं । इनका जन्म सन् 1866 ई० में काशी में हुआ था । उन्होंने 65 उपन्यास लिखे । इनके सामाजिक उपन्यासों में त्रिवेणी, लीलावती या आदर्श सती, राजकुमारी, चपला या नव्य समाज, पुनर्जन्म, अँगूठी का नगीना आदि प्रसिद्ध हैं ।

गोस्वामी जी के सभी उपन्यास स्त्री - प्रधान हैं और उनमें प्रेम के विविध रूपों का चित्रण है ।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' या देवबाला तथा - 'अधखिला फूल' दो सामाजिक उपन्यास लिखे । 'ठेठ हिन्दी का ठाट' में अनमेल विवाह का दुष्परिणाम दिखाया गया है । 'अधखिला फूल' में धर्म की महत्ता प्रतिपादित की गई है ।

ब्रजनन्दन सहाय ने बँगाय कथा - साहित्य से प्रभावित होकर 'सौन्दर्योपासक' और 'राधा कान्त' दो सामाजिक उपन्यास लिखे । 'सौन्दर्योपासक' में नायक अपनी साली से प्रेम करता है । साली भी उसे चाहती है । सौन्दर्योपासक की पत्नी इस तथ्य से अवगत होने पर दुखी रहने लगती है और अन्त में मर जाती है । बेचारा सौन्दर्योपासक विरह संतप्त होकर दुखी

जीवन व्यतीत करता है । 'राधाकान्त' आत्मकथात्मक शैली में दो खण्डों में लिखा गया है । राधाकान्त एक साधारण किसान का बालक है । उसमें अनेक मानवीय दुर्बलतायें हैं । वह क्रमशः पतन की ओर बढ़ता है किन्तु अन्ततः उसमें सुधार होता है ।

प्रेमचन्द - पूर्व युग के सामाजिक उपन्यासों के अतिरिक्त देवी प्रसाद शर्मा कृत सुन्दर सरोजिनी', लोचन प्रसाद पाण्डेय कृत 'दो मित्र' रामजीदास वैश्य कृत 'सती' बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'संसार' हरस्वरूप पाठक कृत ('भारतमाता', श्री कृष्णलाल वर्मा कृत 'चम्पा' आदि उपन्यास भी उल्लेखनीय हैं ।

इन उपन्यासों में धर्म की जय, आदर्श - आचरण का महत्व, नवीनता का समर्थन या विरोध, अन्धविश्वासों का परित्याग, सतीत्व की महिमा, ईश्वरीय न्याय में विश्वास, राष्ट्र - प्रेम आदि का चित्रण किया गया है ।

ऐतिहासिक उपन्यास और उपन्यासकार :-

प्रेमचन्द - पूर्व युग में अच्छे ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव था । किशोरीलाल गोस्वामी, गंगा प्रसाद गुप्त, मथुराप्रसाद शर्मा, बलदेव प्रसाद मिश्र, बाबू व्रजनन्दन सहाय और मिश्र बन्धुओं ने इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है ।

किशोरीलाल गोस्वामी एक अच्छे ऐतिहासिक उपन्यासकार माने जाते हैं । इनके 'तारा वा क्षात्र कुल कमलिनी, 'हृदय हारिणी' वा आदर्श रमणी' गुलबहार का आदर्श भातृ स्नेह तथा लखनऊ की कब्र या शाही महलसरा इत्यादि ऐतिहासिक प्रसिद्ध उपन्यास हैं ।

गंगा प्रसाद गुप्त ने भी कई ऐतिहासिक उपन्यास लिखे । इनमें नूरजहाँ, वीर - पत्नी, हम्मीर और कुमार सिंह सेनापति आदि प्रमुख हैं ।

जयरामदास गुप्त ने 'काश्मीर पतन' रंग में भंग, मायारानी, कलरवती तथा मालिका चाँद बीबी आदि कई ऐतिहासिक परम्परा के उपन्यास लिखे । 'काश्मीर पतन' में रणजीत सिंह द्वारा (1918 ई0) में काश्मीर पर विजय प्राप्त करने के बाद उसकी होनावस्था का चित्रण किया गया है । किशोरीलाल गोस्वामी की भाँति गुप्त जी ने भी ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव में कल्पना से काम लिया है । मथुरा प्रसाद सिन्हा का एक ही ऐतिहासिक उपन्यास नूरजहाँ, बेगम व जहांगीर (सन् 1905 ई0) प्रसिद्ध है । इसमें इतिहास का अधिक और कल्पना का बहुत कम पुट देखने को मिलता है । बलदेव प्रसाद मिश्र ने 'अनारकली' 'पृथ्वीराज चौहान' तथा 'पानीपत' तीन ऐतिहासिक उपन्यास लिखे । मिश्र जी ने मुगल काल के इतिहास से परे जाकर अन्तिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज के जीवन पर उपन्यास लिखा । यह उनकी विशेषता मानने योग्य है ।

बाबू ब्रजनन्दन सहाय ने 'लाल चीन' नामक एक ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखा । लेखक ने इसमें यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि परिस्थितियाँ मानव - चरित्र में आमूल परिवर्तन लाती हैं । प्रेमचन्द - पूर्व युग के ऐतिहासिक उपन्यासों के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि सच्चे अर्थों में ऐतिहासिक उपन्यास नहीं है । लेखकों की प्रवृत्ति इतिहास की ओर से हटकर प्रणय - कथाओं, विलास - लीलाओं, रहस्य पूर्ण प्रसंगों तथा कुतूहल

पूर्व घटनाओं का कल्पना में लीन हो जाती है । वे कल्पना से अधिक काम लेते हैं, ऐतिहासिक छान - बीन कम करते हैं । वे इतिहास की चिन्ता छोड़ पाठकों के चित्त को रंजन करने वाली धारा में बह जाते हैं ।

घटनात्मक उपन्यास : तिलस्मी - ऐय्यारी :-

हिन्दी में तिलस्मी - ऐय्यारी उपन्यासों के प्रवर्तक देवकी नन्दन खत्री (1861 - 1913) है । इन्होंने 'चन्द्रकान्ता' लिख कर हिन्दी में तिलस्मी - ऐय्यारी उपन्यासों का प्रवर्तन किया । 'चन्द्रकान्ता' उपन्यास की नायिका विजयगढ़ की राजकुमारी चन्द्रकान्ता है । 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में महारानी चन्द्रकान्ता के दो पुत्रों की कथा वर्णित है । महारानी के दोनों पुत्रों को दो राज कुमारियाँ प्रेम करती हैं और उन्हें सदा के लिए अपना बनाने के उद्देश्य से एक रहस्यमय तिलस्म में बन्द कर देती हैं । अपने ऐय्यारों की सहायता से दोनों राजकुमार तिलस्म को तोड़ने में सफल होते हैं । इसके अतिरिक्त उन्होंने 'नरेन्द्र मोहिनी', 'वीरेन्द्र वीर', 'कुसुम कुमारी', 'अनूठी बेगम', 'भूतनाथ' आदि अनेक उपन्यासों की रचना की । वस्तुतः इन तिलस्मी - ऐय्यारी उपन्यासों के मूल में राजकुमार और राजकुमारियों की प्रेम - कहानियाँ वर्णित हैं ।

देवकीनन्दन खत्री के बाद हरेकृष्ण जौहर ने इस क्षेत्र में अपना जौहर दिखलाया । उन्होंने कुसुमलता, भयानक भ्रम, जादूगर, कमलकुमारी, भयानक खून इत्यादि अनेक तिलस्मी उपन्यास लिखे ।

किशोरीलाल गोस्वामी ने सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना के साथ कुछ तिलस्मी उपन्यास भी लिखे । उनका तिलस्मी 'शीश महल' (1905) इसी परम्परा का उपन्यास है ।

बाबू देवकीनन्दन खत्री के पुत्र बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री ने भी अपने पिता की परम्परा को जीवित रखा । उन्होंने 'भूतनाथ' को पूरा किया और 'रोहतास - मठ' नामक मौलिक तिलस्मी उपन्यास लिखा ।

स्फुट प्रयत्नों में देवीप्रसाद उपाध्याय का 'सुन्दर सरोजिनी' (1893 ई0), गुलाबदास का तिलस्मी 'बुर्ज', रामलाल का 'पुतलो का महल' आदि उपन्यास उल्लेखनीय हैं ।

वस्तुतः तिलस्मी - ऐय्यारी उपन्यासों के क्षेत्र में सर्वाधिक सफलता बाबू देवकीनन्दन खत्री को मिली । इन उपन्यासों को रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य की कोटि में नहीं रखा है । कुछ भी हो, हिन्दी के प्रचार - प्रसार में जितना योग इन तिलिस्मी - उपन्यासों का है, उतना अन्य किसी गद्य विधा का नहीं । यह एक ऐसा तथ्य है जिसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

घटनात्मक उपन्यास : जासूसी :-

सन् 1898 ई0 में गोपालराम गहमरी ने बंगला से 'हीरे का मोल' उपन्यास अनूदित कर प्रकाशित कराया । इससे पाठकों ने पसन्द किया । उत्साहित होकर गहमरी जी ने 1907 ई0 में गहमर से 'जासूस' नामक मासिक पत्र निकाला आपने लगभग दो सौ जासूसी उपन्यास लिखे । आपके उपन्यासों का काफी प्रि वेदेश है । गहमरी जी ने अपने उपन्यासों में एक

प्रकार का नैतिक दृष्टिकोण भी रखा है । इन्होंने 'अद्भुत लाश' 'गुप्तचर' 'सरकती लाश' 'खूनी कौन' 'बेगुनाह का खून' 'भयंकर चोरी' 'अद्भुत खून' 'लाइन पर लाश' 'तिले में खून' 'जासूस का ऐय्यारी' इत्यादि प्रसिद्ध उपन्यास लिखे ।

बाबू गोपालराम गहमरी के बाद रामलाल वर्मा ने 'चालाक चोर' 'जासूस के घर खून' 'जासूसी कुत्ता' 'अस्सी हज़ार की चोरी' आदि कई उपन्यास लिख कर जासूसी उपन्यासों की परम्परा को जीवित रखा ।

इसके अतिरिक्त किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'जिन्दे का लाश' जयरामदास गुप्त का 'लंगडा खूनी' तथा 'काला - चोर' रामप्रसाद लाल का 'हम्माम का मुर्दा' आदि उपन्यास भी जासूसी परम्परा में रखे जा सकते हैं ।

घटनात्मक उपन्यास : अद्भुत घटना प्रधान :-

प्रेमचन्द - पूर्व युग में ऐसे घटनात्मक उपन्यास लिखे गए जिनमें चोर - डकैती, जाल - फरेब, जुआ खून आदि से सम्बन्धित अद्भुत कांडों का जाल रहता था । इस प्रकार के उपन्यासों की प्रेरणा रेनाल्ड्स कृत मिस्ट्रीज़ आफ दी कोर्ट आफ लन्दन' के अनुवाद 'लन्दन रहस्य' से प्राप्त हुई थी । इस परम्परा की सृष्टि करते हुए दुर्गाप्रसाद खत्री ने वैज्ञानिक आविष्कारों के आधार पर रहस्य के साथ राष्ट्रीयता एवम् क्रान्ति की भावना का भी सन्निवेश अपने उपन्यासों में किया । उन्होंने 'प्रतिशोध' 'लाल पंजा' और 'रक्त - मण्डल' आदि उपन्यास लिखे ।

अनूदित उपन्यास :-

भारतेन्दु के समय से ही हिन्दी में उपन्यासों के अनुवाद की परम्परा आरम्भ हो गई थी । प्रेमचन्द - पूर्व युग में सबसे अधिक अनुवाद बंगला में हुए । मराठी, गुजराती तथा अंग्रेजी और उर्दू में भी कुछ अनुवाद हुए । बंगला अनुवादों से हिन्दी उपन्यासों का स्तर थोड़ा ऊँचा हुआ । भारत में नवीन सामाजिक जागरण का आरम्भ बंग प्रदेश से हुआ था । अतः उपन्यासों के माध्यम से उस नवीन जागृति का विस्तार हिन्दी प्रदेश में भी हुआ । 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध ने बंगला साहित्य में बंकिमचन्द्र चेटर्जी, दामोदर मुकर्जी, रमेशचन्द्र दत्त, स्वर्णकुमारी के उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए थे । इसलिए प्रारम्भ में हिन्दी के अनुवाद प्रकाशित हुए ।

मराठी से चन्द्रप्रभा पूर्व प्रकाश का अनुवाद श्रीमती मल्लिका देवी ने भारतेन्दु से प्रेरित होकर किया था । गुजराती से लज्जा राम शर्मा ने 'कपटी - मित्र' का अनुवाद किया । 'नए पिशाच' का अनुवाद हरे कृष्ण जौहर ने किया ।

प्रेमचन्द - पूर्व युग के उपर्युक्त अनूदित उपन्यासों का हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण योग है । इन अनुवादों के माध्यम से हिन्दी लेखकों का मानसिक क्षितिज विस्तृत हुआ और उन्होंने हिन्दी - उपन्यास साहित्य को अधिक प्रेरणादायक और कलात्मक बनाने की चेष्टा की ।

उपसंहार :-

प्रेमचन्द - पूर्व युग में उपन्यास साहित्य की रचना नवीन मूल्यों की

अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त काव्य माध्यम की खोज के परिणाम स्वरूप आरम्भ हुई थी । पं0 श्रद्धाराम फिल्लौरी ने तत्कालीन नारी समाज में व्याप्त मध्ययुगीन अन्ध - विश्वास कुरीतियों को मिटाकर उन्हें नवीन युग के अनुकूल आचरण करने में समर्थ बनाने के लिए 'भाग्यवती' उपन्यास की रचना की । 'परीक्षा गुरु' 'नूतन ब्रह्मचारी' तथा 'सौ सुजान एक अजान' आदि उपन्यासों की रचना सामाजिक उत्थान की प्रेरणा से ही की गई थी । हिन्दी प्रदेश में नवीन सामाजिक चेतना को जन - साधारण तक पहुँचाने का श्रेय आर्य समाज आन्दोलन (1878 ई0) को है । इस आन्दोलन का हिन्दी साहित्य पर व्यापक प्रभाव लक्षित किया जा सकता है । प्रेमचन्द - पूर्व हिन्दी उपन्यासकारों में रूड़ित शर्मा, श्याम - किशोर वर्मा तथा श्रीकृष्ण वर्मा आदि आर्य समाज से प्रेरित थे । प्रेमचन्द - पूर्व युग के प्रमुख सामाजिक उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी, लज्जाराम शर्मा, गंगाप्रसाद गुप्त - सनातन धर्म के समर्थक थे ।

प्रेमचन्द - पूर्व युग के अदूर्ध - शिक्षित पाठकों के संस्कार अधिक उन्नत नहीं थे । उनमें सुरुचि का अभाव था । वे अब भी सो रहे थे । उपन्यास-कारों का एक बहुत बड़ा समुदाय उन्हें जगाने के बजाए उनके मनोरंजन में ही लग गया । फलस्वरूप प्रेम - प्रधान, साहसिक, रोमांचकारी और अद्भुत घटना - प्रधान उपन्यासों की भरमार हो गई । मनोरंजन प्रधान ये उपन्यास आज इतिहास की वस्तु बनकर रह गए हैं और प्रेमचन्द के आगमन के साथ हिन्दी उपन्यास साहित्य में एक नए युग का आरम्भ हुआ ।

ग) प्रेमचन्द और उनका समसामयिक उपन्यास साहित्य :-

प्रेमचन्द :- प्रेमचन्द - साहित्य का प्राण तत्व युग की सामाजिक समस्याएँ थीं ।

उनके उपन्यासों में समस्याओं की बहुलता है जो कभी आधिकारिक, कभी प्रासंगिक और कभी एकमात्र संकेत के रूप में अभिव्यक्त होती है । लेखक के इस समस्या - बाहुल्य से एक निष्कर्ष निकलता है कि प्रेमचन्द साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध मानते थे । वे साहित्य के माध्यम से समाज सुधार का कार्य करना चाहते थे । इसके दो परिणाम हुए : कला पक्ष गौण हो गया तथा विषय पक्ष प्रधान हो गया । साहित्य की मर्यादा से अधिक सामाजिक मर्यादा पर ध्यान केन्द्रित हो जाने के कारण स्वभावतः लेखक का सामाजिक विचार - दर्शन अधिक स्वस्थ हो चला है । यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द साहित्यकार तथा समाज - सुधारक दोनों रूप में सामने आते हैं । अतः यदि इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाए कि प्रेमचन्द प्रथम लेखक हैं, जिन्होंने हिन्दी कथा - साहित्य को समाजोन्मुख बनाया, तो अत्युक्ति न होगी ।

प्रेमचन्द का भारतीय समाज - दर्शन में सबसे प्रशंसनीय प्रयास यह है कि उन्होंने भारतीय नारी को रूढिवादी समाज से मुक्ति देने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया । प्रेमचन्द स्वस्थ समाज की कल्पना करते हैं, जिसमें नारियों को भी समान अधिकार मिलें लेकिन उनकी दृष्टि में पाश्चात्य नारी की स्वच्छन्दता भारतीय नारी - आदर्श के उपयुक्त नहीं थी । अन्तर्विरोध के कारण पाश्चात्य संस्कृति के प्रति लेखक की उपेक्षा भावना ही मुख्य रही है । एक दृष्टि से देखा जाए तब प्रेमचन्द का सम्पूर्ण उपन्यास - साहित्य रूढियों तथा अन्याय के विरुद्ध नारी - विद्रोह का इतिहास है लेकिन 'गोदान' उपन्यास का प्रेमचन्द इस दृष्टि से भिन्न है ।

प्रेमचन्द ने समाज के रूढिवादी तत्वों को पहचाना था । वे परम्पराओं

का निषेध इस सीमा तक करते हैं कि पिता द्वारा की हुई शादी को उन्होंने ठुकरा दिया था । प्रेमचन्द परम्पराओं तथा रूढियों को तोड़कर नवीन सामाजिक मान्यताओं को स्थापित करना चाहते हैं जिससे समाज तथा व्यक्ति में आधुनिक युग के अनुसार स्वस्थ समझौता हो सके, लेकिन यह तथ्य उल्लेखनीय है कि अछूतोद्धार के प्रश्न पर भले ही प्रेमचन्द समाज से आगे निकल जाते हैं लेकिन अन्य सामाजिक प्रश्नों पर मुख्यतः नारी की समस्याओं में वह सामयिक परिस्थितियों के घेरे में ही बंध जाते हैं । प्रेमचन्द समस्याओं को पैनी दृष्टि तक यथार्थवादी शैली में प्रस्तुत करते हैं, लेकिन समाधान उनके आदर्शवादी एवं सुधारवादी हो जाते हैं । इसलिए उन्हें सामयिकता से समझौता करना पड़ता है ।

(2) जयशंकर प्रसाद :- सामाजिक विचारों की दृष्टि से प्रसाद जी की सामाजिक भावभूमि कंकाल तथा तितली दोनों उपन्यासों में भिन्न है । कंकाल में धर्म - सम्मत समाज की बुराईयों का पर्दाफाश करने के उद्देश्य से धार्मिक केन्द्रों में फैले भ्रष्टाचार को प्रथम बार लेखक ने पाठकों के सम्मुख रखा । जातीय उच्चता का विरोध, वस्तुतः एक क्रान्तिकारी सामाजिक दृष्टि - कोण प्रस्तुत करता है, लेकिन उसके लिए प्रसाद जी अवैध सम्बन्धों का आश्रय लेते हैं । अवैध सम्बन्धों का तर्क लेकर लेखक ने सम्पूर्ण समाज के सम्मुख प्रश्न - चिह्न लगा दिया है । स्वयं लेखक का दृष्टिकोण निषेधात्मक हो गया है, वह कोई समाधान नहीं दे पाता । लेकिन 'तितली' उपन्यास में प्रसाद जी स्वस्थ सामाजिक भावना का परिचय देते हैं । वैवाहिक प्रश्न पर लेखक ने निश्चय ही प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाया है । - 'तितली' के रूप

में जो नारी - चरित्र प्रस्तुत किया गया है, वह नारी की विकास दिशा का सूचक है । तितली नारी - समाज का प्रकाश स्तम्भ है । 'इरावती' इनका अधूरा उपन्यास है ।

(3) वृन्दावनलाल वर्मा :- वर्मा जी मूलतः रोमांटिक शैली के उपन्यासकार हैं । समाज में यौन - सम्बन्धी संकीर्ण मान्यताओं तथा स्वतन्त्र वैवाहिक चुनाव पर कठोर प्रतिबन्ध होने के कारण जहाँ मनोवैज्ञानिक शैली के उपन्यास-कारों के लिए अनुभूति तथा मनन का विशाल क्षेत्र है, रोमांटिक उपन्यासकारों के लिए भी वह उर्वर भूमि है । जब समाज कठोर प्रतिबन्धों, रूढ़ियों के साँचे में जकड़ जाता है तो व्यक्ति स्वच्छ वायु लेने के लिए सीमाएँ तोड़कर बाहर निकलना चाहता है । लेखक कल्पना तथा रोमांस को शरण लेता है और स्वच्छन्द विचरण का सन्तोष प्राप्त करता है । उनमें एकमात्र कल्पना तथा प्रेम का आवेश ही नहीं होता वरन् सामाजिक रूढ़ियों को मिटाकर समाज का परिष्कार करने का भी प्रयास होता है । व्यक्ति और समाज का स्वस्थ - सम्बन्ध स्थापित करना रोमांटिक शैली की सबसे बड़ी विशेषता है ।

वर्मा जी सामाजिक रूढ़ियों का विरोध रोमांटिक धरातल पर करते हैं । इसके लिए साहसी पात्रों का नियन्त्रण आवश्यक है । यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि वर्मा जी साहसी पात्रों का चुनाव मध्यवर्ग तथा शहरी वातावरण से नहीं करते वरन् उनके पात्र गाँवों के सशक्त किसान युवक - युवतियाँ हैं । उपेक्षित पात्रों को प्रथम बार सहानुभूति मिली । उन्होंने तुलनात्मक चरित्र - चित्रण पद्धति से भी काम लिया है । 'कोतवाल का करामात' उपन्यास का

मनोहर जुआरी तथा 'प्रत्यागत' उपन्यास का हरिसिंह कहार, पाठकों के लिए प्रिय पात्र हैं । निम्नवर्गीय पात्रों में कहीं अधिक सामाजिक सुन्दरता है । पैंलू जैसा अशिक्षित किसान भी सामाजिक कुप्रथाओं का विरोध करने के लिए सक्रिय है । पात्रों के निर्माण तथा चरित्र - चित्रण से यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्मा जी सामाजिक उपन्यासों की भूमि पर निश्चय ही जन-वादी कलाकार हैं । वर्मा जी रोमांस की परिणति कभी भी विकृत रूप में नहीं करते । सामाजिक सदाचार तथा नैतिकता के प्रति उनके पात्रों की पूर्ण आस्था है । 'लगन' में वह दहेज प्रथा का विरोध करते हैं । 'प्रेम की भेंट' में वैवाहिक समस्या लेकर माता - पिता की कट्टरता का दुष्परिणाम दिखाते हैं । 'प्रत्यागत' में वर्णाश्रम समाज व्यवस्था की कट्टरता पर प्रहार करते हैं तथा 'संगम' में विधवा विवाह का समर्थन करते हैं ।

(4) विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' :-

'कौशिक' जी प्रथम उपन्यासकार हैं जो गहराई में जाकर सामाजिक समस्याओं का आर्थिक कारण ढूँढ निकालते हैं । उनके मतानुसार वेश्या - समस्या का मूल कारण निर्धनता है । वे प्रथम उपन्यासकार हैं जो आदर्श - भावधारा के लेखक होते हुए भी किसी सामाजिक समस्या का समाधान आदर्शवादी ढंगों से नहीं करते । कथा के प्रवाह तथा पात्रों के चरित्र - चित्रण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका सामाजिक दृष्टिकोण स्वस्थ है तथा समाज के प्रति जागरूक है । उपन्यासकार के नाते, उन्होंने सामाजिक प्रश्नों से तटस्थता बरती है तथा कहीं भी ध्येयोन्मुखता तथा सोद्देश्यता नहीं आने दी ।

(5) भगवतीप्रसाद वाजपेयी :-

हिन्दी साहित्य के रोमांटिक उपन्यासों का केन्द्र प्रायः परिवार हो रहा है । पारिवारिक वातावरण में ही रोमांस विकसित होता है, क्योंकि भाभी - देवर तथा साली - जीजा का रिश्ता हमारी सामाजिक संस्कृति की विशेषता है । वाजपेयी जी ने प्रायः ऐसे ही पात्रों को लिया है । 'प्रेम पथ' के रमेश - तारा 'पतिता की साधना' के हरिराय नन्दा इसके उदाहरण हैं । 'प्रेमपथ ' में लेखक सामाजिक सदाचार का अवहेलना करता दिखायी पड़ता है । इसी से सम्बद्ध एक और प्रवृत्ति दिखाई पड़ता है कि नारी के प्रति लेखक का दृष्टिकोण हेय है । लेकिन 'लालिमा' उपन्यास में लेखक का नारी दृष्टिकोण अधिक स्वस्थ है । 'पतिता की साधना' उपन्यास में लेखक प्रगतिशील भूमिका पर उतर आया है । लेखक विधवा - वेश्या विवाह सम्पन्न करता है ।

वृन्दावनलाल वर्मा और वाजपेयी जी के रोमांटिक विचारों में यह अन्तर है कि वर्मा जी केवल रूढिवादी समाज तथा संकीर्ण मान्यताओं का विरोध करते हैं लेकिन वाजपेयी जी समाज को ही अस्वीकृत करना चाहते हैं । वर्मा जी के पात्र केवल रूढिवादी समाज के बन्धनों को तोड़ना चाहते हैं लेकिन वाजपेयी जी पूरे समाज की घुटन से क्षुब्ध हैं । वर्मा जी का सामाजिक दृष्टिकोण अधिक स्वस्थ है, इसलिए उनके पात्र संघर्ष करते हुए ऊपर उठते हुए दिखाई देते हैं जबकि वाजपेयी जी के पात्र, लेखक का सामाजिक आदर्श रखते हुए भी मरणशील हैं ।

(6) सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' :-

यह उल्लेखनीय तथ्य है कि निराला जी के सभी उपन्यासों का शीर्षक

नारी पात्रों के नाम पर हुआ है । उनके नारी पात्र सुदृढ़ व्यक्तित्व लिए हैं लेकिन वस्तुतः यह उनका उद्देश्य नहीं है अलका के चरित्र - चित्रण से लेखक नारी - शिक्षा पर महत्व देता है । शिक्षा से, निरीह शोभा के व्यक्तित्व का निर्माण, सशक्त अलका के रूप में मिलता है । यही अलका लखनऊ के मजदूरों के बीच शिक्षा - प्रचार करती है । निरूपमा समाज बहिष्कृत डा0 कुमार से प्रेम तथा शादी करती है । यह महत्वपूर्ण तथ्य है कि रूढिवादी सामाजिक बन्धनों को तोड़ने का सर्वप्रथम साहस निराला जी करते हैं । राजकुमार वेश्यापुत्री से विवाह करता है तथा अजित विधवा वीणा से 'निराला जी' समाज को समय से बहुत आगे ले जाते हैं, इस निष्कर्ष में कोई सन्देह नहीं ।

(7) पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' :-

उग्र जी सामाजिक कुप्रथाओं का विरोध करते हैं, लेकिन आक्रोश का केन्द्र बन जाता है - समाज में फैला व्यभिचार का वातावरण, अतः जिस उग्रता से वह समाज के अनाचारों का विरोध करते हैं, उतनी ही तन्मयता से व्यभिचार तथा अनैतिक काम - सम्बन्धों का चित्रण करते हैं । लेखक की प्रकृतवादी शैली सामाजिक विषयों के उपयुक्त नहीं है । यही कारण है कि उग्र जी यद्यपि समाज सुधार का नेतृत्व भी करते हैं, लेकिन समाज को उनसे प्रेरणा नहीं मिलती । उनके पात्र सामाजिक अनाचारों से जूझते हैं, लेकिन शराब तथा वेश्या की शरण लेते हैं । उग्र जी सामाजिक रूढ़ियों, अनाचारों पर क्रूर प्रहार अवश्य करते हैं तथा उनका सामाजिक दर्शन भी स्वस्थ है लेकिन फिर भी वह समाज को आगे नहीं ले जाते । केवल पुरुष

को कामुकता में ही उन्होंने नारी का शोषण देखा है । उनकी नारियों में व्यक्तित्व है, लेकिन फिर भी वह अपनी रक्षा नहीं कर पाती । लेखक जहाँ भी नारी - प्रसंग से हट गया है, स्वस्थ सामाजिक भूमि पर आ जाता है । अछूतोद्धार आन्दोलन के सम्बन्ध में लेखक पूर्ण जागरूक है । कहा जा सकता है कि उग्र जी प्रथम लेखक हैं जो सामाजिक प्रश्नों के लिए नई संघर्ष नीति देते हैं ।

(8) जैनेन्द्र :-

जैनेन्द्र जी मनोवैज्ञानिक यथार्थोन्मुखी शैली अपनाकर तथा रहस्यात्मक अध्यात्मवादी दृष्टिकोण का आवरण लेकर सामाजिक समस्याओं को प्रस्तुत करते हैं । लेकिन पर्याप्त गहराई में जाकर तथा सूक्ष्म अन्वेषण के पश्चात् भी वह सामाजिक प्रगति की विपरीत दिशा का समर्थन करते हुए लगते हैं । लेखक कथा के निर्वाह तथा उपन्यास के अन्त में तटस्थ नहीं रहता, वरन् उसे अपने तिरिक्त विचार - दर्शन से पुष्ट करता है । इससे स्पष्ट है कि सामाजिक समस्याओं के जो भी निष्कर्ष उनके उपन्यासों में मिलते हैं, वह औपन्यासिक परिणति नहीं वरन् स्वयं लेखक के सामाजिक विचारों का प्रतिफल है । कट्टो नए रंग - रूप में वैधव्य समस्या लेकर आती है लेकिन अन्ततः वैधव्य का व्रत लेने में ही मुक्ति देखती है । मृणाल पति के अत्याचारों से विद्रोह करती है लेकिन पति से टूट कर वह अपने पाँवों पर खड़ी नहीं हो पाती । केवल आत्मवेदना का दर्शन देकर हमेशा के लिए टूट जाती है । सुनीता क्षण भर के लिए राजनैतिक मंच पर आती है, लेकिन अन्ततः गृहस्थी की चार दीवारी में ही वह नारी को मर्यादा, सन्तोष, सुख

ढूँढती है । जैनेन्द्र की नारियों में व्यक्तित्व है, लेकिन समाज के लिए निरर्थक । नारी के प्रति जैनेन्द्र का हेय दृष्टिकोण है । व्यक्ति को समाज के प्रति विद्रोह नहीं करना चाहिए अन्यथा वह टूट जाएगा । दूसरी ओर वह सामाजिक व्यवस्था तथा उसकी मान्यताओं को ही अस्वीकार करते हैं । वस्तुतः जैनेन्द्र जी के सम्पूर्ण सामाजिक विचार - दर्शन में अन्तर्विरोधी स्थितियाँ हैं जो उनके कुंठाग्रस्त व्यक्तित्व तथा रहस्यवादी विचारधारा का परिणाम है ।

'परख' उपन्यास में ही उनके सामाजिक दृष्टिकोण का अन्तर्विरोध लक्षित हो जाता है, जो आगे भी सभी उपन्यासों में प्रवाहित है । सत्यधन विवाह पर आस्था रखता है, लेकिन वह प्रेम को मन बहलाव समझता था, उसे सामाजिक रूप नहीं दे पाता । यह लेखक का विश्वासघाती पात्र है । बिहारी लेखक का आदर्श पात्र है जो विवाह को सामाजिक मानता ही नहीं, लेकिन फिर भी कटुता के साथ प्रतिज्ञा में बंधता है ।

लेकिन फिर भी सामाजिक विचार - दर्शन की दृष्टि से जैनेन्द्र का महत्वपूर्ण स्थान है । प्रेमचन्द से प्रभावित लगभग सभी उपन्यासकार सामाजिक प्रश्नों का केवल सामाजिक दृष्टि से मूल्यांकन करते हैं । लेकिन जैनेन्द्र जी नवीन युग का संकेत करते हैं कि समाज से अधिक महत्व व्यक्ति का है तथा उसी दृष्टि से सामाजिक प्रश्नों का मूल्यांकन होना चाहिये ।

ब) प्रेमचन्दोत्तरी हिन्दी - उपन्यास :-

देश के राजनैतिक स्वतन्त्रता तो बहुत बाद में मिली पर हिन्दी का

साहित्यकार प्रेमचन्द - युग के अन्तिम चरण में ही अपनी मानसिक मुक्ति की घोषणा कर चुका था । समाज की अंध परम्पराओं, उसके कृत्रिम मूल्यों और निरर्थक मान - मर्यादाओं से व्यक्ति की आत्मा को मुक्त कराने के लिए वह जी - जान से जुट गया था । उस समय व्यक्ति की आत्मा एक ओर हिन्दी कविता में छायावाद की अजस्र - धारा बन फूट निकली और दूसरी ओर कथा - साहित्य में जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' ने सामाजिक मूल्यों की कृत्रिमता पर करारी चोट की । जैनेन्द्र के 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' में इन मूल्यों की गहराई खुदाई करके मूल नैतिकता की खोज की । अज्ञेय के 'शेखर: एक जीवनी' तक पहुँचते - पहुँचते तो साहित्यकार सामाजिक नैतिकता से भी ऊपर उठ गया और विज्ञान की अधुनातन उपलब्धियों के सहारे मानव - मन में कार्य - कारण के सूत्र ढूँढने लग गया था । उसे विश्वास हो गया था कि व्यक्ति समाज की मूल भूत इकाई है । समाज के सत्य को यदि सच्चे हम पाना चाहते हैं तो सबसे पहले व्यक्ति के सत्य को पाने का प्रयत्न करना होगा । व्यक्ति के परिष्कार में भी उसे रुचि नहीं रही थी, क्योंकि वह मानता था कि व्यक्ति अपने को समझने लगा है। इस प्रकार साहित्यकार की आस्था समाज से हटकर व्यक्ति में स्थापित हो गई । लिखना उसके लिए मजबूरी बन गया । सत्य के प्रति उसमें एक लगन थी, जिसे समाज आदर की दृष्टि से देखता था । फिर देश स्वतन्त्र हुआ । स्वतंत्रता तो मिल गई पर बहुत महँगी पड़ गई ; उसे पाने के लिए हमें उन सब उपलब्धियों की बलि देनी पड़ी । देश के विभाजन से एकता की नींव हिल गई और फूट के तत्वों को बढ़ावा मिला । हिंसात्मक घटनाओं ने स्थान ले

ले लिया । हिंसा की ओर झुक कर भी नारा हम अहिंसा का लगाते रहे । इस प्रकार आत्म - प्रवंचना का युग आरम्भ हुआ ।

आत्म - प्रवंचना का यह युग मानव - मूल्यों के निर्मम विघटन और जीवन व्यापी कटुता - कुंठा को लिए, अपनी सम्पूर्ण प्रकृति - विकृति के साथ हिन्दी उपन्यास में प्रतिबिम्बित तो हुआ ही, उसे नया रंग, रूप और आकार भी देता रहा । देश के विभाजन के परिणाम स्वरूप अराजकता की जो आँधी चली, निरीह प्राणियों का जो रक्त - पात हुआ, उसे साहित्यकार का विशेषतः उपन्यासकार का आसन डोल गया । उसकी अन्तर्मुखता भंग हो गई और वह व्यक्ति - मानस की गहराइयों से उभर कर पुनः समाज में लौट आया - समाज के प्रति आक्रोश से भरकर । वह निरंतन सत्य का अन्वेषण छोड़, तात्कालिक यथार्थ की ओर मुड़ा, शाश्वत प्रश्नों को भूल कर वर्तमान समस्याओं में प्रवृत्त हुआ और वस्तुपरक होने लगा । जो व्यक्ति निष्ठ हो रहे, वस्तुनिष्ठ न हो सके । उनका लेखन रुक गया - कम से कम उपन्यास के माध्यम से तो रुक गया । जैनेन्द्र और अज्ञेय की औपन्यासिक कृतियों में एक लम्बा अन्तराल इस बात का प्रमाण है ।

इलाचन्द्र जोशी व्यक्ति - मानस की गहराइयों से अपेक्षतया शीघ्र निकल आए और उन्होंने 'मुक्ति पथ' के रूप में एक संतुलित कृति दी । अमृतलाल नागर जैसे अनेक उपन्यासकार समय की नब्ज़ पहचानते हुए व्यक्ति पर समाज के नृशंस अत्याचारों के विरुद्ध कटिबद्ध हो गए और उन्होंने 'बूंद और समुद्र' आदि कृतियों में व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को चित्रित करते हुए दोनों के सामंजस्य पर बल दिया है । इनके

अतिरिक्त कविता और नाटक की सीमाओं को लांघ कर उदयशंकर भट्ट विष्णु प्रभाकर आदि कई और लेखक भी सामाजिक उपन्यास की धारा में आ मिले ।

यशपाल ने अपनी महत्वपूर्ण कृति 'झूठा - सच' में विभाजन की विभीषिका और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के भारतीय समाज और संस्कृति की दुखद परिणति का निर्मम एवम् सांगोपांग चित्रण किया है ।

समय पाकर व्यक्ति - निष्ठ उपन्यासकारों की वृत्तियाँ भी प्रकाश में आईं । उदाहरणार्थ सुखदा, नदी के द्वीप, जयवर्धन आदि । उदाहरणार्थ उनके माध्यम से वे व्यक्ति - मानस की गहराइयाँ नापते हुए मानव की चिरन्तन समस्याओं से जूझने लगा । जैनेन्द्र, इलाचन्द जोशी, अज्ञेय आदि इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के साथ अब डा० देवराज, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे आदि भी आ मिले थे । फिर भी, चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगर वधू' वृन्दावनलाल वर्मा की 'मृगनयनी' यशपाल की 'अमिता' आदि सशक्त रचनाओं के रूप में नए प्रयोग बरबस पाठकों को आकृष्ट करते रहे हैं ।

स्वतन्त्रता - प्राप्ति के बाद जब देश की एकाग्रता भंग हो गई, एकता की अपेक्षा अनेकता की प्रवृत्ति बढ़ी और हर किसी का ध्यान अपने प्रदेश, जाति-वर्ग, धर्म - संस्कृति पर आ टिका, तब हिन्दी साहित्य में आंचलिक उपन्यास का उदय हुआ । नागार्जुन ने अपने उपन्यास 'बलचनमा' से प्रारम्भ किया तो फनीश्वरनाथ रेणु 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' की रचना

दूसरा उसे विकास की ओर ले बढ़े । शिवप्रसाद मिश्र रुद्र, भैरवप्रसाद गुप्त, शैलेश मटियानी आदि कई उपन्यासकार भी उनके साथ आ मिले ।

स्वतन्त्र भारत में नर - नारी के सम्बन्धों ने भी नया मोड़ लिया । विवाह ने अब धार्मिक अनुष्ठान न रहकर स्त्री - पुरुष में बराबरी के स्तर पर होने वाले समझौते का रूप धारण कर लिया । देश के विभाजन में नारी को जो झेलना पड़ा था, उसने उसकी आँखें खोल दी थीं । सभ्यता ने उसकी स्वतन्त्रता को स्वीकारा । कानून ने उसे बराबरी का दर्जा दिया । संस्कारों में वह प्राचीन ही रही, पर आधुनिकता को उसने फैशन के रूप में ओढ़ लिया ।

नारी के इस द्वैत ने साहित्यकार को आकृष्ट किया । इलाचन्द्र जोशी के 'सुबह के भूले' उदय शंकर भट्ट के 'सागर लहरें और मनुष्य' जैनेन्द्र के 'सुखदा' प्रभाकर माचवे के 'द्वाभा' आदि उपन्यासों ने इस विषय को गहराई से लिया । समाज में सेक्स और अर्थ की सम्मिलित विकृतियाँ नारी का शोषण करके उसे कहाँ से कहाँ पहुँचा देता है, इसका चित्रण यशपाल के 'मनुष्य के रूप' और भगवती बाबू के 'आखिरी दाँव' में हुआ । देश के विभाजन की पृष्ठभूमि में नारी के भीषण शोषण, और फिर नवजागरण का सांगोपांग चित्रण यशपाल ने अपने वृहत् उपन्यास 'झूठा सच' में किया । गृहस्थी पर बढ़ता हुआ बोझ, स्वतन्त्रता की कामना और नागरिक जीवन की चकाचौंध आदि मिल कर नारी को नौकरी के क्षेत्र में लाए । पर गृहस्थी की जिम्मेदारी उसकी ज्यों की त्यों बनी रही और यह एक अतिरिक्त दायित्व उस पर आ पड़ा । पहले उसका शोषण घर में होता था, अब बाहर भी

होने लगा ।

प्रेमचन्दोत्तर युग की सबसे महत्वपूर्ण घटना है साहित्य सृजन का 'वाङमय तप' के आकाश से उतर कर व्यवसाय की कठोर धरती पर आ टिकना और इस आधार को दृढ़ता से पकड़ लेना । साहित्य - सृजन व्यवसाय बना तो व्यवसाय के सभी नियम उस पर लागू हुए । माँग और पूर्ति का चक्र चला तो साहित्य को 'आर्डर' पर भी माल तैयार करना पड़ा और ऐसा माल तैयार करना पड़ा जो कम से कम समय में अधिक से अधिक मात्रा में बिक ले और आकर्षक भी हो । मौलिकता और फैशन के फेर में नई - नई तकनीकों का प्रयोग किया गया । इससे उपन्यास की शिल्पगत उपलब्धियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती गई ।

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ - सामाजिक, समाजवादी, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक और आंचलिक उपन्यास के प्रमुख उपन्यासकारों तथा उनकी उल्लेखनीय रचनाओं का संक्षिप्त विवेचन - विश्लेषण इस प्रकार प्रस्तुत है -

सामाजिक उपन्यास :- सामाजिक उद्देश्यों को लेकर उपन्यास लिखने की परम्परा प्रेमचन्दोत्तर युग में समाप्त नहीं हुई, कुछ समय के लिए वह क्षीण अवश्य हो गई, पर देश के विभाजन के समय की सर्वतोमुखी अराजकता ने लेखक को अपने परिपार्श्व के प्रति और भी सजग कर दिया । उसकी अन्तर्मुखता भंग हो गई और सामाजिक उद्देश्य को लेकर नए जोश से लिखने लगा । पर अब वह सामाजिक विघटन के फलस्वरूप व्यक्ति और समाज के प्रति दिनो दिन बढ़ती हुई खाई को पाटने पर बल देता था । इसलिए

अपनी कृतियों के माध्यम से उपन्यासकार व्यक्ति और समाज के सामंजस्य की ओर बढ़ा । दूसरी ओर व्यक्ति के हर किसी से कटकर आत्म केन्द्रित होते जाने के कुपरिणामों का चित्रण किया । इन उपन्यासकारों का दृष्टिकोण मूलतः मानवतावादी रहा है । वे व्यक्तित्व के भीतर से मानव को जगा कर उसे व्यक्तिगत हानि - लाभ से ऊपर उठा कर समष्टि के हित - चिन्तन में प्रवृत्त करना चाहते हैं ।

इस धारा के प्रमुख उपन्यासकार और उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ इस प्रकार हैं :-

(1) भगवतीचरण वर्मा :- उपन्यासकार के रूप में वर्मा जी की ख्याति फैलाने वाला उनका महत्वपूर्ण उपन्यास है 'चित्रलेखा' । वर्मा जी के अन्य उपन्यासों में 'टेढे मेढे रास्ते' 'आखिरी दाँव' 'भूले बिसरे चित्र' 'रेखा' 'सीधी सच्ची बातें' 'सबहिं नचावत राम गोसाईं' उल्लेखनीय हैं ।

'चित्रलेखा' में पाप - पुण्य की समस्या नाटकीय शैली में उपस्थित की गई है । 'टेढे-मेढे रास्ते' वर्मा जी का महत्वपूर्ण उपन्यास है जिसकी पृष्ठभूमि राजनैतिक है । इसमें ताल्लुकेदारी प्रथा के पतन तथा सम्मिलित परिवार व्यवस्था के विघटन का चित्रण बड़ी तीखी व्यंग्यात्मक शैली में हुआ है । 'आखिरी दाँव' नामक उपन्यास की मुख्य समस्या आर्थिक है । उपन्यास का नायक यह स्वीकार करने को बाध्य हो जाता है कि 'इस पैसे की दुनिया में न पाप है, न पुण्य, न प्रेम है, न भावना है - जो कुछ है वह धन ही है ।'

वर्मा जी का उल्लेखनीय वृहत् उपन्यास है :- 'भूले बिसरे चित्र' ।

इसमें मध्य वर्ग के एक परिवार की चार पीढियों की कहानी है जिसके माध्यम से पिछले 50 वर्ष के भारतीय समाज के बदलते हुए मूल्य और राजनैतिक उथल - पुथल का दर्शन कराया है । वर्मा जी के उपन्यास 'रेखा' एक वृद्ध प्रोफेसर की सुन्दर और जवान पत्नी के विवाहेतर से उस जीवन का फार्मूला बद्ध कहानी है । 'सीधी सच्ची बातें' उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार भगवती चरण वर्मा ने सामाजिक कुरीतियों, आर्थिक शोषण एवम् राजनीतिज्ञों की गतिविधियों की कटु आलोचना की है । उनके नवीनतम उपन्यास 'सबहिं नचावत राम गोसाईं' में भी एकदम नया कुछ नहीं । इसकी समस्या की अर्थ मूलक है ।

(2) भगवतीप्रसाद वाजपेयी :- वाजपेयी जी के उपन्यास की मूल समस्या है प्रेम और विवाह में वैमनस्य । वे अब तक चालीस से अधिक उपन्यास लिखा चुके हैं । वह उनके उपन्यास 'विश्वास का बल' की वन्दना के शब्दों में यों है :- 'हर विवाहित नारी विवश प्यार देती है, हर विवाहित पुरुष विवश प्यार ही पाता है । निर्मल प्यार केवल वही नारी दे सकती है जो प्रेयसी हो ।' उनके अन्य उपन्यास यूं हैं :- 'चलते - चलते' 'निमन्त्रण' 'यथार्थ से आगे' 'सपना बिक गया' 'सूनी राह' ।

इस प्रकार इन उपन्यासों में नर - नारी के विवाहेतर सम्बन्धों, उनके परस्पर आकर्षण - विकर्षण और काम - शक्ति के प्रसंगों की भरमार है ।

(3) उपेन्द्रनाथ अश्क :- उपन्यासकार के रूप में अश्क जी को ख्याति मुख्यतः

उनके उपन्यास 'गिरती दिवारें' के कारण हुई जिसमें उन्होंने नायक चेतन के रूप में निम्न मध्य वर्ग के युवक के जीवन - व्यापी संघर्ष का चित्रण किया है । अज्ञेय के दो और अभ्यास भी प्रकाश में आए है : 'शहर में घूमता आईना' और 'एक नन्ही - कन्दील' । अज्ञेय जी के अन्य उल्लेखनीय उपन्यास हैं - गर्म राख, बड़ी - बड़ी आँखें और 'पत्थर- अल -पत्थर' ।

4) अमृतलाल नागर :- 'बूँद और समुद्र' और 'सुहाग के नूपुर' नागर जी के विशेष रूप से उल्लेखनीय उपन्यास हैं । 'बूँद और समुद्र' में नागर जी ने मध्यवर्गीय नागरिक जीवन को आधार बनाकर व्यक्ति और समाज के सामंजस्य पर बल दिया है । 'सुहाग के नूपुर' ऐतिहासिक उपन्यास हैं । लेखक समाज के विघटन की समस्या को इन शब्दों में प्रस्तुत करता है - 'हर बूँद का महत्व है क्योंकि वही तो अनन्त सागर है, एक भी बूँद व्यर्थ क्यों जाए, उसका सदुपयोग करो ।' इनके दो और उपन्यास 'अमृत और विष' तथा 'एकदानेमिंगारथ्ये' भी महान ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

(5) उदयशंकर भट्ट :- सामाजिक उद्देश्य को लेकर चलने वाले उपन्यासों की परम्परा को उदयशंकर भट्ट ने भी समृद्ध किया । इस दृष्टि से उनके उपन्यास 'सागर लहरें और मनुष्य' 'डॉ० शेफाली' 'शेष - अवशेष' और - 'लोक परलोक' उल्लेखनीय हैं । 'सागर लहरें और मनुष्य भट्ट जी का बहुचर्चित उपन्यास है जिसमें बम्बई के आसपास के बरसोवा गाँव की कोहली नाम की मछुआ जाति का सर्वांगीन चित्रण है । यह आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में गिना जाता है । आधुनिक नारी के द्वैत का चित्रण 'डा० शेफाली'

में हुआ है । उनके 'शेष अवशेष' उपन्यास में साधु जीवन का लम्बा और विस्तार भरी कहानी है ।

(6) चतुरसेन शास्त्री :- सामाजिक उपन्यासों में चतुरसेन शास्त्री की कुछ रचनाएँ भी आती हैं यद्यपि उनकी ख्याति उनके ऐतिहासिक उपन्यासों के कारण है । ये रचनाएँ हैं - 'धर्मपुत्र' 'खग्रास' और 'गोली' । 'धर्मपुत्र' हिन्दू मुस्लिम समस्या पर आधारित एक सशक्त रचना है । 'खग्रास' इस युग की वैज्ञानिक खोजों पर आधारित अपने ढंग का एक ही उपन्यास है । 'गोली' नामक उपन्यास में भारतीय रजवाड़ों के रंग महलों में गोले - गोलियाँ एवं दास - दासियों पर होने वाले नृशंस अत्याचारों का चित्रण है ।

(7) विष्णु प्रभाकर :- प्रभाकर जी के दो उपन्यास 'निशिकान्त' और 'तट के बन्धन' भी उल्लेखनीय हैं । 'निशिकान्त' में कमला के रूप में हिन्दी उपन्यास को एक ऐसा सशक्त नारी पात्र दिया है जो समाज से सीधे टक्कर लेकर कठोर से कठोर प्रहारों को भी हिम्मत से झेला है ।

समाजवादी उपन्यास :-

प्रेमचन्दोत्तरी युग में सामाजिक धारा के अतिरिक्त सामाजिक उद्देश्य को लेकर चलने वाली समाजवादी धारा का भी विशेष योगदान रहा । ये उपन्यास व्यक्ति और समाज के संघर्ष की अपेक्षा वर्ग - संघर्ष पर अधिक बल देते हैं । इस धारा के प्रमुख उपन्यासकार और उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ इस प्रकार हैं :-

(1) यशपाल :- उनके उल्लेखनीय उपन्यास जो समाजवादी हैं इस प्रकार

है :- 'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड', 'मनुष्य के रूप' 'झूठा सच' आदि । दिव्या और अमिता उनके ऐतिहासिक उपन्यास है । 'मनुष्य के रूप' यशपाल का अपेक्षाकृत प्रौढ़ उपन्यास है जिसमें पुरुष द्वारा नारी के शोषण की मार्मिक कहानी है । 'झूठा सच' यशपाल का वृहत् और महत्वपूर्ण उपन्यास है जिसके दो भाग हैं - 'वतन और देश' तथा 'देश का भविष्य' पहले भाग में देश के विभाजन के समय की अराजकता और दूसरे भाग में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत का चित्रण ।

(2) नागार्जुन :- प्रेमचन्द के बाद नागार्जुन ने प्रथम बार ऐसे पात्रों को उभारा जो कुंठाओं से मुक्त हैं । उनके प्रमुख उपन्यास है :- 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'बाबा बटेसरनाथ' 'वरुण के बेटे' और 'दुखमोचन' । परन्तु उनकी ख्याति का मूलाधार है 'बलचनमा' जिसमें उन्होंने मिथिला के आंचलिक परिवेश में वहाँ के मध्यवर्गीय किसानों के संघर्षों की दुखभरी कहानी कही है । 'दुखमोचन' में साधन रहित गावों में आ रही नई - चेतना का झाँकी मिलती है ।

(3) रांगेय राघव :- साम्यवादी चेतना के उपन्यासकारों में यशपाल और नागार्जुन के पश्चात् रांगेय राघव का नाम आता है । 'घरौंदे' उनकी प्रथम उपन्यास है जो कला की दृष्टि से एक पुष्ट रचना है । इसके अलावा 'सीधा - सादा रास्ता' 'विषाद - मठ', 'हुजूर' आदि इनके सामाजिक उपन्यास हैं । 'कब तक पुकारूँ' की गणना आंचलिक उपन्यासों में की जाती है । 'मुर्दों का टीला' रांगेय राघव का प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है पर

वहाँ भी उनका दृष्टिकोण समाजवादी ही अधिक रहा है । 'हुजूर' रांगेय-राघव का एक छोटा परन्तु सुसंगठित उपन्यास है जिसमें एक कुत्ते की आत्मकथा के रूप में इस कटु यथार्थ को उभारा गया है कि अनेक सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों के बावजूद मानव का शोषण उसी प्रकार बल्कि उसके भी भीषण हो रहा है और शोषितों की दशा पशुओं से भी गई बीती है ।

इसके अलावा दो और उपन्यासकार ऐसे हैं जिनकी आरम्भिक कृतियाँ स्पष्टतः साम्यवादी विचारधारा से अनुप्राणित है । ये उपन्यासकार हैं - 'लक्ष्मीनारायण लाल और राजेन्द्र यादव ।

लक्ष्मीनारायण लाल के उल्लेखनीय उपन्यास है 'धरती की आँखें', "बया का घोंसला' और साप'' 'काले फूल का पौधा', 'मन वृन्दावन' ।

राजेन्द्र यादव के उल्लेखनीय उपन्यास हैं :- 'सारा आकाश' 'शह और मात' और 'उखड़े हुए लोग'

मनोवैज्ञानिक उपन्यास :-

डार्विन, मार्क्स और फ्रायड की खोजों ने उपन्यासकारों में नवीन जागृति ला दी । नए - नए आर्थिक और मनोवैज्ञानिक अनसन्धानों के प्रकाश में जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण बदलने लगा जिसके परिणामस्वरूप उसके लिखने में भी परिवर्तन आ गया । फ्रायड़ के सिद्धान्तों ने व्यक्ति मानस और व्यक्त - चेतना का जो रूप उद्घाटित किया था, उससे उपन्यासकार को पता चला कि बाह्य संघर्ष की प्रतिछाया या उसका विस्तृत रूप होता है ।

बाहर के स्थूल संघर्ष में पड़ने से पहले व्यक्ति को उसके आन्तरिक संघर्ष से जूझना पड़ता है । उपन्यास में बाह्य संघर्ष का स्थान अन्तर्संघर्ष ने ले लिया। और उपन्यासकार अनुभूति के विभिन्न स्तरों में व्यक्ति मानस में हो रहे संघर्ष को अचेतन के कारणों की खोज में मनोविश्लेषण की ओर प्रवृत्त हुआ । फ्रायड, एडलर और जुंग के सिद्धान्तों ने तथा स्टेकेल और हेवलाक एलिस की धारणाओं ने उसे नई दृष्टि दी ।

(1) जैनेन्द्र :- हिन्दी में प्रेमचन्द के उपन्यासों ने 'सु' और 'कु' तथा देव तथा दानव के रूप में जो मूल्य स्थिर कर लिए थे, जैनेन्द्र ने आते ही उनके आगे प्रश्न चिह्न लगा दिया । पहले 'परख' और 'सुनीता' में फिर 'त्यागपत्र' और 'कल्यानी' में उन्होंने मानव - मन की गहराईयों में उतर कर नर और नारी के सम्बन्धों की परस्परता का जो चित्रण किया है उससे रूढ़ नैतिकता की जड़ें हिल गईं और जैनेन्द्र हिन्दी साहित्य पर छा गए ।

जैनेन्द्र के परवर्ती उपन्यास हैं :- 'सुखदा' 'विवर्त', 'व्यतीत', 'जयवर्धन', तथा 'मुक्ति बोध' । जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों की तरह इन उपन्यासों की नायिकाओं की भी मुख्य समस्या है कि उनका प्रेमी और पति एक व्यक्ति न होकर अलग - अलग दो पुरुष होते हैं जिससे उनका प्रेम हो जाता है उसे विवाह नहीं हो पाता । जिससे विवाह हो हो जाता है उसे प्रेम नहीं हो पाता । ऐसी स्थिति में पति - पत्नी दोनों के बीच भीतरी और बाहरी घोर संघर्ष चल सकता था पर जैनेन्द्र के पात्रों के साथ ऐसा नहीं हो पाता ।

(2) इलाचन्द्र जोशी :- जोशी जी का प्रथम उपन्यास 'सन्यासी' है । 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' और 'निर्वासित' बाद की रचनाएँ है । इलाचन्द्र जोशी के परवर्ती उपन्यास हैं - 'मुक्ति पथ', 'सुबह के भूले' 'जिप्सी' 'जहाज़ का पंछी' और 'ऋतु चक्र' । 'मुक्ति पथ' में व्यक्ति समाज की आधारभूत इकाई है । 'जिप्सी' उपन्यास सारगर्भित है । 'जहाज़ का पंछी' व्यक्ति के प्रति समाज के और व्यक्ति के प्रति व्यक्ति के अत्याचार की कहानी प्रस्तुत करता है । उनका नवीन तम उपन्यास है 'ऋतु चक्र' जिसमें कुछ अछूती समस्याओं को गहराई से लिया गया है ।

(3) अज्ञेय :- अज्ञेय जी ने हिन्दी उपन्यास को एक नवीन मोड़ दिया । उनका विश्वास है कि व्यक्ति अपने सामाजिक - संस्कारों का पुंज है, प्रतिबिम्ब भी है और पुतला भी । 'शेखर एक जीवनी' (दो खंड) अज्ञेय का प्रथम बहु-चर्चित उपन्यास है । स्वतन्त्रता के बाद अज्ञेय के और दो उपन्यास प्रकाश में आए - 'नदी के द्वीप' और 'अपने - अपने अजनबी' ।

(4) डा0 देवराज :- के चार उपन्यास हैं :- 6 'पथ की खोज', 'बाहर - भीतर', 'रोड़े और पत्थर' और 'अजय की डायरी' जिनमें मध्यवर्ग के शिक्षा बुद्धि - जीवी समाज के जीवन की करुण - यथार्थता का मनोवैज्ञानिक चित्रण मिलता है ।

'पथ का खोज' में शिक्षित समाज के जीवन मूल्यों के विघटन के परिणाम स्वरूप पैदा हुए बौद्धिक और मानसिक संघर्ष का निदान व्यक्ति की

भीतरी गहराईयों में उतर कर मनोवैज्ञानिक पद्धति से खोजा गया है । 'अजय की डायरी' उनका नवीन उपन्यास है जिसके प्रकाशकीय वक्तव्य में एक प्रेम कथानक के चारों ओर ग्रन्थित लेखक के जीवन - दर्शन को प्रकट करने वाला हिन्दी का प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय उपन्यास कहा गया है । आधुनिक शिक्षित समाज पर 'अजय की डायरी' एक बहुत बड़ा व्यंग्य है । यह सारा समाज अनेक प्रकार की कुंठाओं का शिकार है ।

(5) प्रभाकर माचवे :- प्रभाकर माचवे के तीन लघु उपन्यास उल्लेखनीय है :- 'परन्तु', 'दुविधा' और 'साँचा' जिनमें सामाजिक वैषम्य की प्रतिक्रिया में व्यक्ति चेतना के अन्तर्मुखी और आकेन्द्रित होकर शून्य में खो जाने का चित्रण है ।

इसके अतिरिक्त नरेश मेहता का उपन्यास 'डूबते मस्तूल' सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का लघु उपन्यास 'सोया हुआ जल' और भारत - भूषण अग्रवाल का 'लौटती लहरों की बाँसुरी' भी उल्लेखनीय हैं ।

ऐतिहासिक उपन्यास :-

हिन्दी उपन्यास में मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती है । पहली है - मानवतावादी दृष्टि से वर्तमान के सन्दर्भ में अतीत का चित्रण और दूसरी मार्क्सवादी चेतना से अनुप्राणित होकर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सहारे प्राचीन इतिहास का विवेचन । वृन्दावनलाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री, अमृतलाल नागर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, आदि के ऐतिहासिक उपन्यास पहली प्रवृत्ति के अन्तर्गत हैं ।

(1) वृन्दावनलाल वर्मा :- वर्मा जी हिन्दी के पहले ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं जिनके प्रारम्भिक उपन्यास है 'गढ़ कुण्डार' और 'विराटा की पद्मिनी' पर ये प्रेमचन्द युग की रचनाएँ हैं । प्रेमचन्दोत्तर युगा का उनका उपन्यास है, 'झाँसी की रानी' । चरित्र चित्रण की दृष्टि से वर्मा जी के इस उपन्यास को काफी मान्यता प्राप्त हुई पर ऐसा लगता है कि जीवन में कम से कम बोलने और अधिकाधिक काम करने वाली झाँसी की रानी' को इस उपन्यास में बोलने के अधिक अवसर मिले हैं । वर्मा जी के परवर्ती उपन्यास हैं :- कचनार, मृगनयनी, सोना, टूटे काँटे, अमरबेल, अहिल्या बाई इत्यादि जिनमें अतीत के चित्रण के साथ रोमांस और आदर्श का ताना - बाना बुना गया है ।

परवर्ती उपन्यास में 'मृगनयनी' सबसे सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है । मृगनयनी में सौन्दर्य और साहस का अपूर्व योग है जिसके बल पर वह देखते देखते साधारण गूजर कन्या निन्नी से रानी मृगनयनी बन जाती है ।

(2) चतुरसेन शास्त्री :- चतुरसेन शास्त्री के उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यास है :- वैशाली की नगर वधू 'सोमनाथ' 'आलमगीर' । इन रचनाओं में उन्होंने आदर्शवादी दृष्टि से भारत के स्वर्णिम अतीत का चित्रण - विश्लेषण करके मानवता के धरातल को उठाने की चेष्टा की है । 'सोमनाथ' का कथानक महमूद गजनवी के सोमनाथ पर आक्रमण की घटना पर आधारित है ।

ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में चतुरसेन शास्त्री की ख्याति का मूलाधार है उनका पहला ऐतिहासिक उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' ।

उपन्यास का केन्द्र है वैशाली की गणिका अम्बपाली ।

(3) अमृतलाल नागर :- के दो ऐतिहासिक उपन्यास है - 'शतरंज के मोहरे' और 'सुहाग के नूपुर' । शतरंज के मोहरे में अवध की नवाबी के पतन का चित्रण है । 'सुहाग के नूपुर' जो कथ्य और कला की दृष्टि से एक सुगठित रचना है । तत्कालीन समाज और राज्य - व्यवस्था के परिवेश में वेश्या समस्या को आधार लेकर लेखक ने इसमें मनुष्य समाज के व्यथित अर्था नारी के अनन्त शोषण और पुरुष प्रकृति की उच्छृंखलता की लोह - हर्षक कहानी कही है ।

(4) हजारी प्रसाद द्विवेदी :- द्विवेदी जी ने सांस्कृतिक विकास को प्रकाश में लाने के लिए इतिहास के काल - विशेष का कल्पना - प्रसूत चित्रण करने का प्रयास किया है । द्विवेदी जी ने अपने समय में चार महत्वपूर्ण उपन्यास लिखे हैं जो इस प्रकार हैं :- (क) बाण भट्ट की आत्मकथा (ख) चारुचन्द्रलेख (ग) पुनर्नवा (घ) अनामदास का पोथा ।

(5) राहुल सांकृत्यायन :- राहुल सांकृत्यायन का नाम भी ऐतिहासिक उपन्यासकारों में आता है जिन्होंने निम्नलिखित उपन्यास लिखे हैं । 'सिंह सेनापति' 'जय यौधेय' 'मधुर स्वप्न' और 'विस्मृत - यात्री' । 'सिंह सेनापति' में लिच्छवि गणतन्त्र की सामाजिक व्यवस्था और तत्कालीन जीवन का चित्रण किया गया है । 'मधुर स्वप्न' में राहुल जी ने भारत के इतिहास की परिधि को लांघ कर छटी शताब्दी के मध्य ऐशिया के जन - जीवन के माध्यम से मार्क्सवादी विचारधारा का समर्थन किया है । राहुल

जी के सभी ऐतिहासिक उपन्यासों का मूल उद्देश्य मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रचार द्वारा आदर्श समाज का निर्माण रहा है ।

(6) यशपाल :- यशपाल ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में लोकप्रिय हैं । उनकी सशक्त कृति 'दिव्या' जिसमें उन्होंने प्राचीन बौद्धकालीन भारत में व्याप्त वर्ण - व्यवस्था और उससे उत्पन्न वर्ग - संघर्ष की चक्की में जीवन भर पिसती रहने वाली एक निरीह नारी की करुण कहानी के माध्यम से उस युग के जन - जीवन की मार्क्सवादी व्याख्या की है । स्वतन्त्रता - प्राप्ति के बाद यशपाल ने 'अमिता' नामक एक ऐतिहासिक औपन्यासिक रचना लिखी जो अशोक के कलिंग - विजय की ऐतिहासिक गाथा पर आधारित है ।

(7) रांगेय राघव :- सामाजिक यथार्थ की अविच्छिन्न शृंखला को देखने से रांगेय राघव ने 'मुर्दों का टीला' 'प्रतिदान' 'अंधेरे के जुगनू' 'राह न रुकी' आदि कई ऐतिहासिक उपन्यास लिखे । पर 'मुर्दों का टीला' सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें 'मोहनजोदड़ो' युग के अज्ञात सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की [redacted] कल्पना - झाँकी प्रस्तुत है ।

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास में एक और नया प्रयोग हुआ है शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' के उपन्यास 'बहती गंगा' के रूप में । उसकी नायिका है काशी की नगरी जिसके दो सौ वर्ष के लम्बे इतिहास का वर्णन बड़ी रोचक शैली में किया गया है । 'बहती गंगा' में दो सौ वर्ष का

बनारसी - जीवन अपनी पूर्ण विविधता और सरलता के साथ मूर्त हो उठा है ।

यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र का 'सन्यासी और सुन्दरी' तथा बनकाम सुनील के 'धूली और नर्तन' 'सामन्त बीज गुप्त' तथा 'इरावती' उल्लेखनीय उपन्यास हैं । 'इरावती' में लेखक ने जयशंकर प्रसाद की अधूरी कृति 'इरावती' को आगे बढ़ाकर पूरा किया है ।

आंचलिक उपन्यास :-

स्वतन्त्रता के बाद के हिन्दी उपन्यास का मौलिक उद्भावना है - आंचलिक उपन्यास । आंचलिक उपन्यास जिस भी प्रदेश जाति या अंचल को छूता है, उसकी भौगोलिक स्थिति और वहाँ के लोगों की धर्म - संस्कृति, रीति-नीति, प्रकृति - विकृति का ऐसा सांगोपांग चित्रण करता है कि उस क्षेत्र या अंचल का जन - जीवन अपनी सम्पूर्ण विविधता में साकार हो उठता है ।

आंचलिक उपन्यास के रूप में फनीश्वरनाथ 'रेणु' के उपन्यास 'मैला आंचल' को खूब ख्याति मिला । आंचलिकता की दृष्टि से दूसरा उपन्यास परती - परिकथा है । इसमें मैला-आंचल के अभावों की पूर्ति की चेष्टा दीखती है । परन्तु हिन्दी उपन्यास में आंचलिकता का अभ्युदय नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' से मिल जाता है ।

शिल्प विकास :-

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी - उपन्यास के शिल्प में भी अनेक क्रान्तिकारी

परिवर्तन हुए हैं जिनके मूल में निरन्तर बदलते हुए जीवन - मूल्य और उपन्यास के प्रति उपन्यासकार का विकासमान दृष्टिकोण अर्थात् बौद्धिकता को पकड़ कर चलता रहा है । चरित्र चित्रण जो अब तक उपन्यास की धुरी माना जाता था, उपन्यास में सीधे करने से बचता हुआ रूप बदल कर आने लगा । इससे चरित्र - चित्रण के अनेकानेक टकनीकों का उदय हुआ । देश - काल, परिस्थिति और वातावरण जो पहले पृष्ठभूमि का काम करते थे, अब उपन्यास के आलम्बन बनने लगे । उपन्यास की भाषा भी मानक हिन्दी न रहकर प्रादेशिक बोलियों की ओर झुकने लगी । सबसे बड़ा बात यह हुई कि उपन्यासकार अपनी रचना को अब प्रभावोत्पादक, बनाने की बजाए स्वाभाविक और विश्वसनीय बनाने की ओर प्रवृत्त हुआ । अपनी कृति को कोरी कला के सहारे न छोड़कर उसे दृढ़ वैज्ञानिक आधार प्रदान करने लगा ।

कथानक :- उपन्यासकार अपने को कथा के सृजन तक ही सीमित रखने लगा है और उसके कथन का भार पात्रों पर डालने लगा । फलतः उपन्यास के धरातल से लेखक का वह चिरपरिचित रूप लुप्त होने लगा ।

आत्मकथा :-

कथानक के नैरेशन का भार पात्र पर आ पड़ा तो उपन्यास किसी दूसरे की जीवनी की बजाए आत्मकथा के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा । जैनेन्द्र के 'सुखदा' और 'व्यतीत' नरेश मेहता के 'डूबते - मस्तूल' में आत्मकथा शैली की अपनी सीमाएँ हैं ।

इन आत्मकथाओं की अनेकता में से एक कथानक खोज निकालने का भार उपन्यासकार पाठक पर छोड़ देता है । उपन्यासकार अब उसे अपनी अंगुलि पकड़कर उपन्यास की पगडन्डी पर नहीं चलाता, बल्कि उपन्यास के मुख्य द्वार पर लाकर उसे चक्रव्यूह में धकेल देता है । पाठक उस कथानक को भूल - भुलैयों में मार्ग खोकर भटकने लगता है तो यह उपन्यास का दोष नहीं, पाठक में पर्याप्त युगबोध के अभाव का सूचक माना जाता है ।

अनेक कथाओं में एक कथा :-

अनेक आत्मकथाओं के सहारे एक कथानक की व्यंजना वाली इस शैली का उदाहरण है - प्रभाकर माचवे का उपन्यास 'परन्तु' और भगवती प्रसाद वाजपेयी का "सपना बिक गया" । पहली रचना की भूमिका में धर्मवीर भारती ने पाठकों को विश्वास दिलाना चाहा है कि 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' एक कहानी में अनेक कहानियाँ नहीं अनेक कहानियों में एक कहानी है - और लेखक के सत्य को पाने के लिए पाठक बेचारे का सिर चकरा जाता है कि ऐसे कैसे है ।

शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' के 'बहती गंगा' में सात तरंगे हैं :- एक दूसरे से अलग, परस्पर स्वतन्त्र परन्तु धारा और तरंग न्याय से आपस में बंधी हुई है । इसके पाठक जानते हैं कि इस 'धारा तरंग - न्याय' से पाठकों के साथ कितना अन्याय हुआ है ।

कहानी आगे से पीछे की ओर :-

उपन्यास के कथानक की कालावधि का संकोच इस युग के शिल्प -

विकास की एक और उपलब्धि है जिसमें जीवन के किसी अ काल खंड जैसे घन्टा, दिन, सप्ताह आदि में ही पूरा जीवन प्रतिबिम्बित हो उठता है । परिणामतः उपन्यास की कहानी पीछे से आगे नहीं, आगे से पीछे की ओर चलती है । 'शेखर : एक जीवनी' इस शैली का उत्तम उदाहरण है ।

डायरी :-

कथानक की टूटी कड़ियाँ जोड़ने के लिए उपन्यास के कथानक में डायरी शैली का प्रयोग तो पहले भी किया जाता था, परन्तु पूरे का पूरा उपन्यास डायरी के भीतर प्रस्तुत करने के भी कई प्रयत्न हुए जिनमें उल्लेखनीय हैं :- जैनेन्द्र का 'जयवर्धन' डा० देवराज का 'अजय की डायरी' और राजेन्द्र यादव का 'शह और मात' ।

'शह और मात' और 'अजय की डायरी' में नायक और नायिका दोनों डायरी लिखते हैं और बीच - बीच में एक दूसरे को अपनी डायरी में पढ़ा देते हैं ।

चरित्र - चित्रण :-

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में स्वप्न - विश्लेषण द्वारा भी पात्रों के मानसिक संघर्षों को दिखाया गया है । जैनेन्द्र के उपन्यास 'सुनीता' और 'नदी के द्वीप' में भी मानसिक संघर्ष के चित्रण मिलते हैं ।

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'जिप्सी' में सम्मोह - विश्लेषण का प्रयोग

हुआ है । स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में एक दीर्घ अन्तराल के पश्चात दुलमुल पात्रों को पुनः बढावा मिला । इन पात्रों की बड़ी समस्या है कि वे जो करना चाहते हैं वही उनसे नहीं हो पाता, और जो वे नहीं करना चाहते वह ठीक उनसे बरबस हो जाता है । उनके भीतर अचेतन में कहीं बहुत गहरे द्वन्द्व मच रहा होता है जिसको वह जानते नहीं ।

भाषा :-

हिन्दी उपन्यास में भाषा के उत्तरोत्तर सशक्त और समर्थ होते जाने की परम्परा स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद बन चुकी है, वह कायम रही बल्कि पुष्ट भी हुई । इसका अधिकतर श्रेय मनोवैज्ञानिक उपन्यासों को जाता है । भाषा - शैली की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कुछ नए प्रयोग भी हुए दूसरों की कहनी के सहारे अपने भावों को अभिव्यक्त करने की सुविधा ने उद्धरण शैली को जन्म दिया जिसमें पात्र दूसरों के गद्य पद्यांशों का गुनगुनाता हुआ उनमें व्यक्त भावनाओं के सहारे अपनी मनः स्थिति व्यक्त करता है । 'शेखर एक जीवनी' से इस शैली का प्रयोग आरम्भ हुआ था । 'नदी के द्वीप' में इस शैली का खुलकर प्रयोग हुआ । प्रभाकर माचवे ने अपने उपन्यासों में इसे 'अति' तक पहुँचा दिया । हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में तो उद्धरणों के बहाने ही हिन्दीतर भाषाओं का प्रवेश हुआ था, पर आंचलिक उपन्यास के अभ्युदय ने उपन्यास की भाषा ने एक और मोड़ दिया । अंचल - विशेष के वातावरण को उभारने के लिए पात्रों के कथोपकथनों की भाषा हिन्दी के बजाए उस अंचल की बोली ही हो गई । नागार्जुन के 'बलचनमा' से रेणु के 'मैला आंचल' और 'परती - परिकथा'

तक पहुँचते पहुँचते आंचलिक उपन्यास की भाषा हिन्दी के सामान्य पाठक की समझ से परे हो गई ।

उद्धरण शैली :-

स्वतन्त्रता - प्राप्ति के बाद के उपन्यासों में स्थान - स्थान पर दूसरों के गद्य - पद्यांश प्रचुरता से उद्धृत किए जाने लगे हैं । पात्र अपनी बात सीधे न कहकर बार - बार दूसरों के गद्य पद्यांशों को गुनगुनाते लगते हैं । इस उद्धरण - प्रवृत्ति पर चर्चा भी खूब हुई है । पर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में यह प्रवृत्ति - चरित्र - चित्रण की एक विशिष्ट प्रणाली के रूप में अपनाई गई है । अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में उद्धरण - शैली का खूब प्रयोग हुआ है । चरित्र - चित्रण की दृष्टि से स्वतन्त्रता - प्राप्ति के बाद के उपन्यास की उल्लेखनीय घटना है - नायक - नायिकाहीन उपन्यासों की रचना । इन उपन्यासों का केन्द्र कोई एक व्यक्ति स्त्री या पुरुष नहीं बल्कि कोई विशेष समस्या अथवा कोई वर्ग या जाति या प्रदेश या अंचल रहा है ।

देशकाल और वातावरण :-

देशकाल के चित्रण और वातावरण के निर्माण की दृष्टि से आंचलिक उपन्यास के अभ्युदय के साथ हिन्दी उपन्यास के शिल्प - विकास में एक मौलिक परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ । पहले देशकाल और वातावरण का चित्रण उपन्यास के अन्य तत्वों को पुष्ट करने के लिए साधन के रूप में होता था । अब उपन्यास के अन्य सभी तत्व गौण होकर चित्रण और वातावरण की पुष्टि के निमित्त बन गए और उपन्यास की सफलता - विफलता की कसौटी बना ।

प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी - उपन्यास की यह यात्रा बड़ी चक्करदार रही है और पथरीली भी, पर इसकी अनेक उपलब्धियाँ महान और बेजोड़ हैं । कथ्य की दृष्टि से इ यात्रा में 'चित्रलेखा' 'त्याग पत्र', 'शेखर एक जीवनी' 'दिव्या' 'वैशाली की नगरवधू' 'गुबित पथ', 'मैला आंचल' 'बूंद और समुद्र' 'सागर लहरें और मनुष्य' 'झूठा सच' आदि उपन्यास माल का पत्थर माने जाए तो अपने परिपक्व शिल्प के कारण 'नदी के द्वीप' 'जहाज़ का पंछी' 'जय वर्धन' 'अजय की डायरी' 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' 'बहती गंगा आदि रचनाएँ भी अद्वितीय रहेंगी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्दोत्तर युग की सबसे बड़ी और क्रान्तिकारी घटना तो यह है कि जीवन अब जीने और भोगने का बजाय समझने और समझाने का, व्याख्या और विश्लेषण का विषय बन गया है तथा अनुभूति का स्थान बौद्धिकता ने लिया है । शिल्पगत प्रयोग जितने स्वातन्त्र्योत्तर युग में हुए हैं उतने शायद् उपन्यास के पूरे इतिहास में भी नहीं हुए । इससे उपन्यास का रूप तो निखर आया है, पर उसकी अन्तः सरिता सूखती जाई है । शिल्प के प्रति उपन्यास के उत्तरोत्तर बढ़ते मोहकों को देख कर बार - बार यह प्रश्न कौंध जाता है कि शिल्प की शक्ति से खड़ी कृतियाँ देश और काल की सीमा को कैसे लांघ सकेंगी ।

द्वितीय अध्याय

क) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व ।
ख) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का साहित्यिक-चिन्तन ।
ग) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का सांस्कृतिक-चिन्तन ।
घ) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का ऐतिहासिक चिन्तन ।

द्वितीय अध्याय

आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी :

क) व्यक्तित्व एवं कृतित्व :-

हिन्दी - साहित्य के मूर्धन्य समालोचक तथा 'भारती' के अनवरत सेवक आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म श्रावण शुक्ल एकादशी सं0 1964 [illegible] तदानुसार सन् 1907 ई0 में उत्तर प्रदेश के बलिया ज़िले के ओझवलिया नामक ग्राम में हुआ था । इनके पिता का नाम श्री अनमोल द्विवेदी और माता का नाम श्रीमती ज्योतिष्मती था । इनके बचपन का नाम बैजनाथ द्विवेदी था । सन् 1927 ई0 में इनका विवाह श्रीमती भगवतीदेवी के साथ हुआ, जिसने सात पुत्र - पुत्रियों को जन्म दिया । इन की शिक्षा संस्कृत महाविद्यालय काशी में हुई । वहीं इन्होंने सन् 1919 ई0 में संस्कृत साहित्य में शास्त्री तथा सन् 1930 ई0 में ज्योतिष विषय लेकर शास्त्राचार्य की उपाधि प्राप्त की ।

अपनी शिक्षा समाप्त करके इन्होंने अपना जीवन एक शिक्षक के रूप में

ही प्रारम्भ किया । 8 नवम्बर 1930 ई0 को इनकी नियुक्ति हिन्दी - शिक्षक के रूप में शान्ति निकेतन में हुई । सन् 1950ई0 तक आप इसी पद को सुशोभित करते रहे । सन् 1940 ई0 से सन् 1946 तक इन्होंने कलकत्ता से प्रकाशित होने वाली 'अभिनव भारती' ग्रन्थ माला का सम्पादन भी किया । सन् 1945 से 1950 ई0 तक इन्होंने हिन्दी भवन विश्व - भारती के संचालक के रूप में कार्य किया । सन् 1960 ई0 में ये पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष तथा प्रोफेसर नियुक्त हुए । उसके बाद इसी विश्वविद्यालय में टैगोर प्रोफेसर के रूप में कार्य किया ।

द्विवेदी जी की साहित्यिक - साधनाओं से प्रभावित होकर अनेक हिन्दी संस्थाओं ने तथा भारत सरकार ने इन्हें पुरस्कृत तथा सम्मानित किया है । सन् 1957 ई0 में भारत के राष्ट्रपति ने उन्हें पद्म-भूषण उपाधि से सम्मानित करके न केवल इनका सम्मान किया है वरन् समूचे हिन्दी - साधकों को सम्मानित किया है ।

रचनाएँ :-

द्विवेदी जी ने अनेक रचनाओं की सृष्टि की है जिनमें कुछ मौलिक हैं, कुछ सम्पादित हैं और कुछ अनूदित । इनकी अधिकांश रचनाएँ पुरस्कृत हुई हैं । रचनाएँ इस प्रकार हैं :-

1- सूर साहित्य (इन्दौर हि0 सा0 समिति द्वारा स्वर्णपदक से सम्मानित)
2- हिन्दी साहित्य की भूमिका - (हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा मंगलाप्रसाद पुरस्कार)

3- कबीर - हि0 सा0 सम्मेलन द्वारा मंगलाप्रसाद परस्कार

4- प्राचीन भारत का कला विकास -(प्राचीन भारत का कलात्मक विनोद [illegible] से प्रकाशित)

5- नाथ सम्प्रदाय उत्तर प्रदेश (सरकार द्वारा पुरस्कृत)

6- बाण भट्ट की आत्मकथा (काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा द्विवेदी स्वर्ण पदक से सम्मानित)

7- अशोक के फूल

8- विचार और वितर्क । (9) कल्पलता (10) हिन्दी साहित्य का आदिकाल (11) हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास (उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत) (12) मध्यकालीन धर्म - साधना (13) साहित्य का साथी (साहित्य सहचर नाम से प्रकाशित) (14) साहित्य का मर्म (15) विचार प्रवाह (16) संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो (सह सम्पादन) (17) कालिदास की लालित्य-योजना (18) सन्देशरासक (सह सम्पादन) (19) भारतीय नाट्य परम्परा ।

(20) मृत्युन्जय रवीन्द्र

(21) चारुचन्द्रलेखा (22) पुनर्नवा (23) मेघदूत - एक पुरानी कहानी (24) नाथ - सिद्धों की बानियाँ (25) कुटज (26) प्रबन्ध चिन्तामणि (हिन्दी अनुवाद) (27) प्रबन्ध कोश और पुरातन संग्रह (जैन संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद) (28) लालित्य तत्व [illegible]

(29) अनामदास का पोथा (उपन्यास)

इसके अतिरिक्त इन्होंने रवीन्द्र की अनेक बंगला कृतियों के हिन्दी में अनुवाद किये हैं ।

व्यक्तित्व :-

मानव जीवन की उपलब्धियों में व्यक्तित्व का प्रमुख योग होता है और व्यक्तित्व जीवन से प्राण - सामग्री लेकर फलता - फूलता है । इस प्रकार व्यक्तित्व और जीवन दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । उदात्त जीवन के लिए उदात्त व्यक्तित्व आवश्यक है और उदात्त व्यक्तित्व से उदात्त जीवन का आविर्भाव होता है । प्राचीन ग्रीक आचार्य लोंजाइनस ने लिखा है - साहित्यकार के आत्मतत्व की महानता का प्रतिबिम्ब ही साहित्य का औदात्य है । सच्चा वाग्वैदग्ध्य उन्हीं में आया जा सकता है जिनकी चेतना व्यापक और उदार हो ।

यदि द्विवेदी जी की कृतियों पर दृष्टि डाली जाए तो यह असंदिग्ध शब्दों में कह सकते हैं कि इन्होंने साहित्य तथा मानवता को जो कुछ दिया है, वह महान ही नहीं, महत्तम है । द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं जो बरबस बलात् उनके पाठक को या दर्शक का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है ।

कतिपय विशेषताएँ यूँ हैं :-

1- मानवता के प्रति आकर्षण :- द्विवेदी जी मानवतावाद के प्रबल समर्थक है । इसलिए इनका मत है कि साहित्य में मनुष्य और उसकी मानवता का चित्रण ही मुख्य है बाकी सभी बातें गौण हैं । अलंकार रस और छन्द आदि मनुष्य को और उसकी मनुष्यता को ही समझने के साधन हैं । यह अपने आप में कोई स्वतन्त्र माप दण्ड नहीं है । द्विवेदी जी के अनुसार, केवल साहित्य ही वह विधा नहीं है जो मनुष्य को मानवता की ओर प्रेरित करती है, वरन् इतिहास, दर्शन राजनीति आदि सभी शास्त्र मनुष्य के लिए हैं

और इन सभी शास्त्रों का उद्देश्य मनुष्य को सुखी बनाना है । यदि यह ऐसा नहीं करते तो इनका कोई मूल्य नहीं, वे व्यर्थ और हेय हैं ।'

श्री शिवनाथ ने द्विवेदी जी के मानवतावाद का विश्लेषण करते हुए लिखा है - उनका (द्विवेदी जी) का मानववाद उपनिषदों का मानववाद है रवीन्द्र का मानववाद है, जो मानव समाज में किसी प्रकार का भेद या वर्ग मानकर नहीं चलता, जो मानव कहने से सभी वर्गों के मानव को ग्रहण करता है । उनकी मानवता मानव - समाज में जहाँ भी उत्पीड़न देखती है, दलित पड़ने को पक्षपातिनी है, क्योंकि मानव में मध्य संचरित होने वाली एक ही आत्मा पर उनका विश्वास है, यह आत्मा आर्थिक दृष्टि से किस गए उच्च वर्ग में भी है, मध्यवर्ग में भी है और निम्नवर्ग में भी है ।

(2) भारतीय - संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम :-

द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम है कि उसे देखते हुए यदि इन्हें भारतीय संस्कृति की साकार प्रतिमा कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी । द्विवेदी जी ने जो कुछ कहा, लिखा, उन सभी में भारतीय संस्कृति प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मुखरित रहती है । यदि द्विवेदी जी के अनुसार भारतीय संस्कृति का अध्ययन किया जाए तो उसकी प्रमुख विशेषताएँ जिनका द्विवेदी जी ने भी उल्लेख या विश्लेषण किया है अनेक है । इनमें से एक है : समर्पण की भावना । भारतीय संस्कृति में समर्पण की भावना पर बहुत ज़ोर दिया गया है । इसी समर्पण को द्विवेदी जी ने 'सत्य' बताया है - 'परम पुरुष के प्रति', जिसकी प्रत्यक्ष मूर्ति यह दृश्यमान चराचर जगत है, अपने आप को निःशेष भाव से समर्पण

कर देना ही वास्तविक सत्य है । समन्वय भारतीय संस्कृति की दूसरी विशेषता है । यह तो विविध वर्णों और आश्रमों में भी यह प्रवृत्ति दिखायी देती है । इसलिए द्विवेदी जी ने उसी व्यक्ति को लोकनायक का अधिकारी बताया है जो समन्वय कर सके । भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय कर सके, क्योंकि भारतीय समाज में नाना भाँति की परस्पर विरोधिनी, संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार - निष्ठा और विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं ।' द्विवेदी जी का मत है कि समन्वय केवल भारतीय संस्कृति की ही विशेषता नहीं अपितु यह तो समूची मानव - संस्कृति का मूलाधार है । मैं तो संस्कृति को किसी देश - विशेष या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता ।

मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों का एक ही सामान्य मानव - संस्कृति हो सकती है । यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी है । प्रेम भावना भारतीय संस्कृति का तीसरी विशेषता है । इस भावना के अन्तर्गत चेतन और जड़ दोनों प्रकार के पदार्थ आ जाते हैं । मानव - प्रेम भारतीय संस्कृति के प्रबल स्वरों में से है । यही कारण है कि भारतीय मनीषियों ने सदैव समस्त मनुष्यों के कल्याण की कामना की है । द्विवेदी जी भी इस कामना का प्रतिपादन इन शब्दों में करते हैं - 'इतिहासविधाता का स्पष्ट इंगित इस ओर है कि मनुष्य में जो मनुष्यता है, जो उसे पशु से अलग कर देता है, वही आराध्य है । मानव प्रेम के अतिरिक्त प्रकृति - प्रेम को भी भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान मिला है । यही कारण है भारतीय

वाङ्मय में प्रकृति के अनेक रूपों का चित्रण हुआ है । द्विवेदी जी ने भी अपने अनेक निबन्धों में प्रकृति के बहुत से सरस और आत्मीयता से भरे हुए चित्र अंकित किए हैं । यथा - जो लोग दीवारों से घिरे और छत से ढके कमरे में रात काटने के अभ्यस्त हैं, उन्हें यदि कहूँ कि रात जीवन्त वस्तु है तो न जाने क्या कहेंगे लेकिन जो कोई भी आँख-कान रखने वाला भला आदमी तारा - खचित आसमान के नीचे घन्टे आधा - घन्टे के लिए खड़ा होगा, वह अनुभव करेगा कि रात सचमुच जीवन्त पदार्थ है ।' भारतीय संस्कृति में स्वदेश प्रेम को भी महत्व दिया गया है । द्विवेदी जी के शब्दों में जिन विदेशी पण्डितों ने हमारे देश के जड़ - चेतन के बारे में परिश्रम पूर्वक और ईमानदारी के साथ बहुत कुछ लिख रखा है, उनके हम अवश्य कृतज्ञ होंगे पर उतने से ही हमें सन्तुष्ट नहीं होना है । हमें अपने देश को अपनी आँखों से देखना है । जब तक हम इस विशाल और महान् देश को उनकी समूची छवियों के साथ नहीं पहचानते, तब तक इसके प्रति हमारा प्रेम मौखिक और क्षण स्थायी होगा ।

इस विवेचन से स्पष्ट है : भारतीय संस्कृति द्विवेदी जी के रग - रग में रमी हुई है । इनके प्रत्येक शब्द, प्रत्येक क्रिया - कलाप में भारतीय संस्कृति की महत्ता निहित है ।

-- - — --

हास्य और व्यंग्य की प्रवृत्ति :

द्विवेदी जी का व्यक्तित्व हास्य और व्यंग्य की प्रवृत्तियों से परिपूर्ण है । द्विवेदी जी का व्यक्तित्व उस गहन गम्भीर नीलाकाश की भाँति है

जिसमें हास्य और व्यंग्य के सितारे टिमटिमा कर इनकी गम्भीरता को कुछ हल्का कर देते हैं । द्विवेदी जी का हँसी जितनी मधुर होता है, इनका व्यंग्य उतना ही मर्मान्तिक होता है । यदि इनके व्यंग्यात्मक निबन्धों का परीक्षा किया जाए तो सहज ही पता चल पड़ता है कि ये व्यंग्य करने में कितने कुशल हैं । आज भारतीयों का कितना सामाजिक पतन हो गया है । इस पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं - 'पाणिनि की सन्तान आज हींग बेचती हैं और कुमारजीव के सगे - सम्बन्धी आज सीमान्त के हिन्दुओं की बहू - बेटियों का व्यवसाय करते हैं और इस बात को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि कालिदास की विहार-भूमि में आज ऐसी सभ्यता (या बर्बरता) का तांडव हो रहा है की चित्त को भय बिना न रह सकता ।' आज के समाज में कितनी कृत्रिमता आ गई है, इस पर व्यंग्य करते हुए इन्होंने लिखा है :- 'कूटनीतिज्ञों के मुँह से त्याग की प्रशंसा सुनकर ग्लानि होती है, सेनापतियों के मुँह से अहिंसा की स्तुति सुनता हूँ तो क्रोध होता है । सेठों और सामन्तों के मुँह से त्याग और तप की चर्चा सुनता हूँ तो झुंझलाहट पैदा होती है और समाजवादियों के मुँह से तो गान्धी का नाम सुन कर ही घृणा हो जाती है ।'

इस प्रकार द्विवेदी जी का विनोद जितना सुन्दर है, इनका व्यंग्य उतना ही तीक्ष्ण और मर्मान्तिक है ।

सरलता :- द्विवेदी जी का जीवन सरलता से ओत - प्रोत है । इनकी वेश - भूषा में, रहन - सहन में सर्वत्र सरलता दृष्टिगोचर होती है । यदि

इनकी वेश - भूषा को देखा जाए तो लगता है कि कोई भारतीय विद्वान अपने उत्तरीय में समस्त भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं को संजोए हुए हो ।

अन्त में, यहाँ यह प्रश्न का विचारणीय है कि वे कौन से तत्व हैं, जिन्होंने द्विवेदी जी को ऐसा भव्य और विलक्षण व्यक्तित्व प्रदान किया है ? मनोवैज्ञानिकों का मत है कि किसी भी व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण उसके जन्मजात गुणों से, उसकी पारिवारिक परिस्थितियों से, शिक्षा - क्षेत्र की उपलब्धियों से, सामाजिक सम्पर्कों से तथा राष्ट्र और युग के तत्कालीन वातावरण से होता है । द्विवेदी जी के व्यक्तित्व के विषय में यह मान्यता सर्वांशतः सत्य सिद्ध होती है । डा० गणपतिचन्द्र गुप्त के शब्दों में :- 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को कुशाग्र बुद्धि, उदार हृदय एवं व्यापक मानवीय चेतना का स्थायी निधियाँ पैतृक दाय के रूप में प्राप्त हुई तो संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश, हिन्दी, बंगला आदि के अध्ययन से उन्हें साहित्य के निरंतन सौन्दर्य एवं उसके शाश्वत् तत्त्वों का बोध प्राप्त हुआ । उनका अध्ययन क्षेत्र जहाँ साहित्यिक परम्पराओं की दृष्टि से गम्भीर है, वहाँ विषय - वैविध्य की दृष्टि से वह व्यापक भी है । प्राचीन साहित्य एवं तत्सम्बन्धी विषयों का ही उन्होंने ज्ञान प्राप्त नहीं किया, आधुनिक ज्ञान - विज्ञान से सम्बन्धित विभिन्न विषयों का भी उन्होंने अध्ययन किया है । उनकी गति भौतिक विज्ञान के गुरुत्वाकर्षण - सिद्धान्त से लेकर आइंस्टाइन के सापेक्षवाद तक, डारविन के विकासवाद से लेकर नृतत्व - शास्त्र की महत्वपूर्ण उपलब्धियों तक सर्वत्र है । यही कारण है कि वे प्राचीन और नवीन में,

साहित्य और जीवन में, दर्शन और विज्ञान में सहज ही समन्वय स्थापित कर पाते हैं ।

इस श्रमसाध्य उपलब्धि के अतिरिक्त द्विवेदी जी के व्यक्तित्व को और विचारधारा को जिन महापुरुषों ने प्रभावित किया है, उनमें कवीन्द्र रवीन्द्र और महात्मा गान्धी के नाम विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं । 'महात्मा जी के प्रति' निबन्ध में इन्होंने महात्मा जी की महत्ता का वर्णन करते हुए लिखा है ' वह जिधर मुड़ा, जीवन लहरा उठा, वह जिधर झुका, प्रेम बरस पड़ा, वह जिधर चला जमाना ठहरक गया ।'

ख) आचार्य द्विवेदी जी का साहित्यिक - चिन्तन :-

स्वातन्त्र्योत्तर विचारात्मक गद्य का सबसे सुन्दर और पुष्ट स्वरूप हमें साहित्यिक चिन्तन के क्षेत्र में मिलता है । हमारा नया साहित्यिक - चिन्तन प्राचीन भारतीय परम्परा से उतना अनुप्राणित नहीं है, जितना आधुनिक पश्चिमी साहित्यिक चिन्तन की परम्परा से । पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के संघात ने हमारे यहाँ जिस आधुनिक जीवन का [redacted] आरम्भ किया वह अपने साथ पश्चिमी साहित्य भी लाया । एक तो उनका आधार ही नया जीवन था जो हमारे पूर्वजों के जीवन से एकदम भिन्न था, दूसरे हमारे लेखकों के सामने जिस साहित्य का आदर्श था, उसमें पीछे अपनी कुछ एकदम स्वतन्त्र और मौलिक उद्भावनाएँ थीं । इन सब कारणों से आधुनिक काल में अन्य भारतीय भाषाओं के समान हिन्दी में नए साहित्य - चिन्तन का प्रारम्भ हुआ ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की समीक्षा का प्रारम्भिक स्वरूप हमें 'सूर - साहित्य' नामक रचना में दिखलाई देता है जो एक प्रकार से प्रभाववादी संस्थान के अन्तर्गत आती है । लेखक ने इस कृति की रचना शान्ति - निकेतन के भावुक वातावरण में बंगाली और विदेशी पण्डितों के बीच में रहते हुए की है । बाद में द्विवेदी जी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' नामक ऐतिहासिक व्याख्यान - माला के साथ हिन्दी - साहित्य के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक समीक्षक के रूप में सामने आते हैं । उनका भारतीय इतिहास और संस्कृति का अध्ययन अत्यन्त गम्भीर है और उन्होंने उसको आधार बनाकर रचनाकारों एवं रचनाओं के परिवेश का विशेष रूप से उद्घाटन किया है । ऐतिहासिक समीक्षा के अन्तर्गत अनेक प्रकार की सामग्री आती है । पहले तो यह आवश्यक होता है कि समीक्षक की इतिहास - चेतना रचना के पारम्परिक स्रोतों को पकड़ने में समर्थ हो और साहित्य की भाषात्मक एवं अभिव्यंजनात्मक विकासात्मकता को स्पष्ट कर सके । दूसरी चीज़ यह आवश्यक है कि रचनाकार की सांस्कृतिक स्थिति और उसकी रचना में अन्तर्हित सांस्कृतिक मूल्यों को भी वह ध्यान में रखे । परन्तु एक तीसरी बात यह है कि समीक्षक का समाज शास्त्रीय बोध विकसित हो और वह रचना में समकालीन सामाजिक द्वन्द्वों को परिलक्षित करने में समर्थ हो । ऐतिहासिक और सांस्कृतिक समीक्षा रचना के उद्गम की ओर संकेत नहीं करती, व्यक्ति और समाज पर उसके प्रभाव को भी निरूपित करती है । आज के युग में हमें ऐसे साधन उपलब्ध हैं जिनके आधार पर हम पाठक समाज पर रचना के अच्छे - बुरे प्रभावों का मूल्यांकन कर सकते हैं । परन्तु प्राचीन युग की रचनाओं के सम्बन्ध में इस प्रकार

की कोई सुविधा हमें प्राप्त नहीं है ।

आचार्य द्विवेदी जी की ऐतिहासिक समीक्षा में ये तीनों अन्तर - धाराएँ साथ - साथ चलती हैं । परन्तु वे सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और रचना के सांस्कृतिक स्वर को ही अधिक महत्व देते हैं ।

महाप्रभु चैतन्य की जन्म भूमि और बाउलों के देश बंगाल में रहने के कारण आचार्य द्विवेदी सन्तों की प्रगतिशील चेतना के मर्म में ~~प्रवेश~~ प्रवेश करने में समर्थ हुए । वस्तुतः द्विवेदी जी समीक्षक की अपेक्षा ऐतिहासकार अधिक हैं तथा उनकी समीक्षा भी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सूत्रों को ही लेकर चलती है । आचार्य द्विवेदी जी ने समीक्षा में रस को ही अन्तिम तत्व माना है परन्तु रचना यदि व्यक्ति एवम् समाज के चरित्र का उन्नयन करती है तो रसपुष्ट न होने पर भी उसका अपना महत्व है ।

आचार्य द्विवेदी जी को 'मानवतावादी' समीक्षक भी कहा गया है । द्विवेदी जी मनुष्य के नाते ही साहित्य को बड़ा मानते हैं । उनके विचार में यह आवश्यक है कि साहित्य में मनुष्य की मनुष्यता पूर्ण रूप से चरितार्थ हो । उन्होंने संयम, तप, औदार्य और त्याग को ही मनुष्यता माना है तथा विवेक और कल्पना को वहीं तक सार्थक समझा है जहाँ तक इनके द्वारा उन तत्वों की पुष्टि होती है ।[1]

आचार्य द्विवेदी जी साहित्य तथा मनुष्य की सांस्कृतिक भूमिकाओं से

1- साहित्य का मर्म - हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ-38

सम्बन्धित करते हैं । इतिहासकार होने के नाते आचार्य द्विवेदी अपनी समीक्षा में वैज्ञानिक का सा अनासक्त दृष्टिकोण लेकर चलते हैं । परन्तु उनकी समीक्षा उद्देश्य हीन न होकर सोद्देश्य है, क्योंकि इसे उसमें मनुष्य की समुन्नत सांस्कृतिक चेतना और उसके आत्मिक - उन्नयन का और स्पष्ट रूप से संकेत मिलते हैं । आचार्य जी के विचार में साहित्य मंगल का विधायक है । साहित्य में व्यक्ति और समाज द्वन्द्वात्मक न होकर एक दूसरे के पूरक होते हैं । उनके विचार में भाषा सामाजिक सम्बन्धों की ही प्रतीक है और शब्दों के पीछे एक परिपूर्ण ऐतिहासिक परिपाटी निहित रहती है । आलोचक के रूप में द्विवेदी जी का सबसे बड़ा प्रदेय यह है कि उन्होंने हमें मध्ययुगीन साहित्य की प्राणशक्ति से परिचित कराया और उन सांस्कृतिक और साहित्यिक मूल्यों की ओर इंगित किया, जो नए - पुराने साहित्य में समान रूप से मिलते हैं ।

आचार्य द्विवेदी केवल समीक्षक ही नहीं है वे इतिहासकार, संस्कृति वेत्ता, निबन्धकार और कथाकार भी है । उनके व्यक्तित्व के प्रसाद के ये विभिन्न आयाम हैं, परन्तु मूल रूप में वे आदर्शवादी, कल्पना प्रवण तथा रस - मर्मज्ञ कलाकार है । उनकी समीक्षा बौद्धिक न होकर हृदय से उद्भूत है, फलतः उसमें कहीं भी जटिलता नहीं । यद्यपि उनकी समीक्षा [illegible] का क्षेत्र प्राचीन और मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य ही अधिक रहा है, जिसमें उन्हें शोध का ही पर्याप्त श्रेय प्राप्त है परन्तु नए साहित्य की बदलती भंगिमाओं में भी उन्होंने रस लिया और नए लेखकों को अनेक प्रकार से प्रोत्साहित किया है । साहित्य - चिन्तन और विचारक के रूप में उनका

स्थान निस्सन्देह शीर्ष स्थान रहेगा ।

आचार्य द्विवेदी के विचार से 'मनुष्य की सर्वोत्तम कृति साहित्य ही है । उसमें जाति का सौन्दर्य - प्रेम अभिव्यंजना पाता है । वह मनुष्य को आहार-निद्रा आदि पशु - सामान्य मनोवृत्तियों से ऊपर उठाता है, उसे देवता बनाता है ।'[1]

वे कहते हैं : 'मनुष्य को देवता बनाना ही छन्द - साधना का चरम एवं लक्ष्य है । जिस कवि को सचमुच ही छन्द रूपी रत्न का साक्षात्कार हुआ है, उसे ऐसा ही विषय खोजना चाहिए जिससे मनुष्य देवता बने, लोभ-मोह की मार से ऊपर, आहार - निद्रा के धरातल से ऊपर, संकीर्ण स्वार्थ के पंजों से मुक्त । साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि जो कुछ घटता है वह सत्य ही नहीं होता, सभी तथ्य सत्य नहीं होते हैं ।'[2]

'सत्य है मनोभूमि । सुन्दरता और सामंजस्य ही सत्य है । साहित्य में इन्हीं की साधना पल्लवित होती है । मनुष्य की मनुष्यता की परिपूर्ण चरितार्थता साहित्य का विषय है । अतः मनुष्य की सर्वोत्तम कृति साहित्य है और उसे मनुष्य पद का अधिकारी बने रहने के लिए साहित्य ही एकमात्र सहारा है ।'[3]

आचार्य द्विवेदी मानवतावादी आलोचक हैं । उनका उद्देश्य है - 'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ । जो वाग्जाल

1- कल्पलता - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0-140-141
2- - वही - पृ0-142
3- - वही - पृ0-145

मनुष्य को दुर्गति, हीनता, परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसको आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है ।'

'प्रश्न यह है कि साहित्य आनन्द के लिए है या जीवन के लिए ? आचार्य द्विवेदी जी का उत्तर स्पष्ट है - 'साहित्य के उत्कर्ष या अपकर्ष के निर्णय की एकमात्र कसौटी यह है कि वह मनुष्य का हित - साधन करता है या नहीं ।'[1] हित साहित्य का कार्य साहित्य तभी सम्पादित कर सकता है जब उसमें जीवन की वास्तविकता की उपेक्षा न हो ।

साहित्यकार जीवन की कुरूपता से समझौता नहीं करता, वह उसे सुन्दर में बदलने का प्रयत्न करता है । वह उपयोगीवादी दृष्टि है, परन्तु साहित्य यदि संस्कृति का वाहन है तो उसे यह दृष्टि लेकर चलना होगा । द्विवेदी जी के शब्दों में :- 'साहित्य के उपासक अपने पैर के नीचे की मिट्टी की अपेक्षा नहीं कर सकते । हम सारे बाह्य जगत् का असुन्दर छोड़कर सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते । सुन्दरता सामंजस्य का नाम है । जिस दुनिया में छोटाई और बड़ाई में, धनी और निर्धन में, ज्ञानी और अज्ञानी में आकाश - पाताल का अन्तर हो, वह दुनिया सामंजस्यमय नहीं कहा जा सकती और इसलिए वह सुन्दर भी नहीं है । इस बाह्य असुन्दरता के ढूह पर खड़े होकर आन्तरिक सौन्दर्य की उपासना नहीं हो सकती । हमें बाह्य असौन्दर्य को देखना ही पड़ेगा । निरन्न, निर्वसन जनता के बीच खड़े होकर आप परियों के सौन्दर्य लोक की कल्पना

1- अशोक के फूल - हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0-18।

नहीं कर सकते । साहित्य सुन्दर का उपासक है इसलिए साहित्यिक को असामंजस्य के दूर करने का प्रयत्न पहले करना होगा, अशिवा और कुशिवा से लड़ना होगा भय और ग्लानि से लड़ना होगा, सौन्दर्य और असौन्दर्य में कोई समझौता नहीं हो सकता ।'[1]

आचार्य द्विवेदी जो साहित्य को लोकमंगल में प्रतिफलित देखना चाहते हैं । उनके शब्दों में 'साहित्य की साधना तब तक बन्ध्या रहेगी, जब तक हम पाठकों में ऐसी अदमनीय आकांक्षा जाग्रत न कर दें जो सारे मानव - समाज के भीतर से और बाहर से सुन्दर तथा सम्मान योग्य देखने के लिए सदा व्याकुल रहे ।'[2]

साहित्य की जिस चरित्र निर्मात्री, आत्म - निष्ठ, संकल्पी धारणा को लेकर आचार्य द्विवेदी चले हैं, उसमें मार्क्सवाद की अर्थ - प्रधान जीवन व्याख्या तथा मनोविश्लेषण शास्त्र की आत्मरति तथा यौनमूलक चेतना का स्वयं बोध हो जाता है । उन्होंने इन दोनों पश्चिमी शास्त्रों की सीमाओं को अपने पाठकों के सामने रखा । उनका कहना है कि हमारा नवीन साहित्यकार इन विचारों के मायाजाल को आसानी से काट नहीं पाता । अतः वह भ्रम में पड़ता है और आत्महीनता, क्षतिपूर्ति आदि सिद्धान्तों के फेर में पड़कर जीवन की वास्तविकता से हाथ को धो डालता है । उन्होंने चेतावनी दी है कि पश्चिम के आदान को स्वीकार करते हुए हमें पर्याप्त सावधानी की आवश्यकता है ।

1- अशोक के फूल - हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-189

2- - वही - पृ0-190

उन्होंने प्रगतिवादी साहित्य की मानस - विपथगामिता का निन्दा की है और यह बतलाया कि 'हमारे रसात्मक साहित्य का रचना किसी खंड सत्य के लिए नहीं होनी चाहिए । समूची मनुष्यता जिससे लाभान्वित हो, एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करके पास लाने का प्रयत्न करे, कोई किसी का आश्रित न हो, कोई किसी से वंचित न हो, इस महान उद्देश्य से ही हमारा साहित्य प्रणोदित होना चाहिए ।'[1]

इसी महोद्देश्यता को उन्होंने साहित्य का मूल धर्म माना है । स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदी साहित्य के महत् उद्देश्यों को स्वीकृत करते हुए भी उसे प्रयोजन शक्तिता तक सीमित रखना नहीं चाहते । उनके विचार में 'समूचे भारतीय - काव्य में नितान्त आधुनिक काल को छोड़कर कवि ने अपने को सदा निर्लिप्त द्रष्टा बनाए रखा है । वह चीज़ जिसे वैयक्तिक या स्वाधीनता कहते हैं, जिसमें कवि हर द्रष्टव्य को अपने अनुराग - विराग में डुबोकर देखता है, आधुनिक युग की उपज है ।'[2]

साहित्य की नई मान्यताओं का आचार्य द्विवेदी स्वागत करते हैं परन्तु उनकी मान्यता है कि इन नई मान्यताओं का जन्म जीवन की आवश्कताओं से ही होना चाहिए । आधुनिक साहित्य नए जीवन - बोध का ही प्रतिफल है । 'नयी परिस्थितियों में जब मनुष्य नए अनुभव प्राप्त करता है तो जागतिक व्यापारों और मानवीय आचारों तथा विश्वासों के मूल्य उसके मन में घट या बढ़ जाते हैं । सभी मानों में मूल में कुछ पुराने संस्कार और नए अनुभव रहते हैं । यह समझना गलत है कि किसी देश के मनुष्य सदा -

---

1- अशोक के फूल - आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-145

2- विचार प्रवाह - आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-149

सर्वदा किसी व्यापार या आचार को एक ही समान मूल्य देते आए हैं । पिछली शताब्दी में हमारे देशवासियों ने अपने पुराने संस्कारों को भुला दिया है और बचे संस्कारों के साथ नए अनुभवों को मिलाकर नवीन मूल्यों का कल्पना की है ।'[1] वे अंग्रेज़ जाति और अंग्रेज़ी साहित्य के घनिष्ठ योग से उद्भूत नयी चेतना का स्वागत करते हैं और उसे भारतवर्ष की प्राणवत्ता मानते हैं कि उसने इस नवीन संक्रमण या पाश्चात्य प्रभाव को आत्मसात कर नयी साहित्य चेतना को जन्म दिया ।

विकासवाद, मानवतावाद, मार्क्सवाद और फ्रायड़वाद नए पश्चिमी अभिमत है, जिनसे हम प्रभावित हैं । राष्ट्रीयता भी उसी की देन है । परन्तु जहाँ यह विचार मनुष्य में भेद स्थापित कर मानव चेतना को खंडित करता है, वहाँ उन्हें विकृति ही माना जा सकता है । आचार्य द्विवेदी के मत में वह मानवतावाद निकृष्ट है, जो मनुष्य को शोषक - शोषित, देवता - पशु की दो श्रेणियों में विभक्त कर देता है । इससे मनुष्यता की महिमा का नाश हो जाता है । वे मानव - चित्त की गम्भीरता के पक्षपाती है, उस चित्तगत उन्मुक्तता के नहीं, जिसे 'व्यक्तिवाद' अथवा 'व्यक्तिवाद' कहा जाता है । उन्होंने प्रश्न और समाधान के रूप में अपनी मानवतावादी मान्यता को इस प्रकार रखा है - 'मानवतावाद ठीक है । पर मुक्ति किस को ? क्या व्यक्ति मानव को ? नहीं ? सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है । मनुष्य को, व्यक्ति मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि मनुष्य को, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक शोषण से मुक्त करना होगा ।'[2]

1- विचार प्रवाह : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-175

2- - वही - पृ0-191

आचार्य द्विवेदी सांस्कृतिक मानस को ही साहित्य चेतना के मूल में रखते हैं । उन्होंने स्पष्ट कहा है कि चित्तगत उन्मुक्तता का अर्थ यह नहीं होता कि मनुष्य अपने पूर्वजों का विशाल अनुभव - सम्पदा की उपेक्षा करे ।

उनकी मान्यता में नवीन और प्राचीन आदर्शों तथा अनुभवों का सहज समन्वय ही साहित्य के लिए कल्याणकार है । 'जहाँ कहीं भी नए साहित्य ने नवीन आदर्श को अपनाया है, वहीं उसने प्राचीन मानवीय प्रयत्नों को मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति माना है । नवीन आदर्शों का महत्व तब तक ठीक - ठीक समझा नहीं जा सकता, जब तक उसके प्राचीन का निष्पक्ष अध्ययन न किया जाए । यह आदर्श जिस दिन स्वीकृत होगा, उस दिन समस्त जगत के प्राचीन कृतित्व का अध्ययन अधिक गम्भीर अधिक व्यापक और अधिक निष्पक्ष हो सकेगा ।'[1]

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने 'काल में प्रव्याप्त मनुष्य' को ही साहित्य का लक्ष्य माना है । इस मन्तव्य में पश्चिमी व्यक्तिवाद का विरोध और मनुष्य की सामाजिक तथा सांस्कृतिकता की पूर्ण स्वीकृति है ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी का साहित्य - चिन्तन राष्ट्रीयता तथा भारतीय संस्कृति की प्राणवान चेतनाओं से ओत - प्रोत है । वह -'विशुद्धता' का आग्रह नहीं करता, परन्तु साहित्यिक माने जाने वाले तत्वों की उपेक्षा भी नहीं करता है हाँ, वह साहित्य धर्म को मनुष्यता से अलग या बड़ा तत्व नहीं मानता । उसका मत इस उद्धरण

।- विचार प्रवाह - आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी पृ0-।9।

इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाएगा, जिसमें उन्होंने मानव - सत्य की अपनी व्याख्या को परिपति दी है ।

'साहित्य के अध्ययन के लिए नाना प्रकार की बाह्य आकार - प्रकारों का, छन्द का, शैली का, व्यंग्यार्थ का, अलंकार का, रचना - कौशल का अध्ययन आवश्यक हो जाता है । वस्तुतः वे सभी बातें मनुष्य बुद्धि की उपज है और इसलिए अनुप्रेक्षणीय है । लेकिन इनकी सीमा नहीं है । जिस व्यक्ति के दिल में मानवता के स्वाभाविक धर्म की उपलब्धि का आनन्द उच्छल हो गया होता है, जिसमें कहने योग्य बात कहलाने की बेचैनी पैदा कर दी गई होती है, वह नया छन्द बना लेता है, नए अलंकार की योजना कर लेता है, नयी शैली बना लेता है, परन्तु जिसे इन मूल बातों का स्पर्श नहीं, वह साहित्यकार नहीं हो सकता ।'[1]

आचार्य द्विवेदी जो साहित्य में जीवन की उदात्त वृत्तियों का पोषण चाहते हैं । उसके लिए साहित्य एक साध्य साधन और साध्य है । वे सांस्कृतिक मनुष्य का जयगान करते हैं, जो निर्दलित द्राक्षा की भाँति अतीत का सारा रस वर्तमान के पात्र में निचोड़ लेता है और उसमें युग - युग की तिक्तता को डुबोकर नए मधु की सृष्टि करता है ।

ग) द्विवेदी जी का सांस्कृतिक चिन्तन :-

आधुनिक हिन्दी में सांस्कृतिक चिन्तन की परम्परा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) से प्रारम्भ होती है । उन्नीसवी शताब्दी से बीसवी शताब्दी

१- विचार प्रवाह - आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ०-२१३-१४

के उत्तरार्द्ध तक विदेशी, मुख्यतः अंग्रेज़ी, प्राच्य - विद्या विशारदों भाषा - विदों और पुरातत्व शास्त्रियों के द्वारा हमारी सांस्कृतिक परम्परा का बहुत दूर तक प्रतिष्ठापन हो चुका था । हमारी अपनी सांस्कृतिक चिन्तन की परम्परा बहुत कुछ काव्यात्मक रही है । मध्य युग के आरम्भ में शंकराचार्य और दक्षिण के वैष्णव विचारकों के उपनिषदों, ब्रह्म - सूत्र और श्रीमद्भागवत् गीता की टीकाओं के माध्यम से अपने विचार विद्वानों के सामने रखे हैं । परन्तु वे विचार मुख्य रूप से आध्यात्मिक जीवन और दार्शनिक चिन्तना से सम्बन्धित थे ।

आचार्य द्विवेदी का हिन्दी निबन्ध के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । उनके निबन्ध 1930 ई० के बाद ही प्रकाशित रूप में हमारे सामने आते हैं और फिर पिछले तीन दशकों में उन्हें अन्य साहित्य क्षेत्रों के साथ - साथ इस क्षेत्र में भी पूर्ण सफलता मिली है । हमारे आधुनिक साहित्य विकास के एक विशेष मोड़ पर वह एक स्तम्भ के रूप में दिखलाई देते हैं ।

आचार्य द्विवेदी के लिए पाण्डित्य बोझ नहीं है । वह पुष्प के साथ जुड़ी गन्ध के समान सुन्दर, सरस और मोहक है । गम्भीर विषयों पर निबन्ध लिखते समय भी वे हास्य विनोद, इतिहास - पुराण, संस्कृति और कला का मोहक इन्द्रजाल विवेच्य वस्तु पर फैलाते गए हैं । भारतीय संस्कृति, इतिहास, धर्म दर्शन और साहित्य, विशेषतः काव्य का ज्ञान उन्हें अतीत से बांधे रखता है और उनकी स्वच्छन्द कल्पना अपनी उड़ाने में

मानव की श्रेष्ठतम उपलब्धियों को बहुत कुछ सौंप लेती है । उनका इतिहास और संस्कृति का ज्ञान हमें अपने राष्ट्र, समाज एवं मानवता के प्रति प्रबुद्ध रखता है ।

आचार्य द्विवेदी केवल साहित्यिक चिन्तक ही नहीं है, वे जीवन चिन्तक भी हैं । भारत वर्ष की प्राचीन संस्कृति के प्रति उनकी अटूट निष्ठा है । परन्तु वह निष्ठा उनके लिए बंधन नहीं है । वे कलाकार और कवि को भविष्य - धर्मी मानते हैं । पुरातन के सार्वभौतनता का समावेश कर मनुष्य काल - देवता के कोड़ों की मार से बचकर नई संतति तथा नए युग - धर्म में निरन्तरता और अमरता की उपलब्धि करता है । ऐसा उनका मत है । अतः संस्कृति के प्रवाहमान और विकासमान रूप को मान कर चलना ही सच्चा मानव - धर्म है ।

उनकी भावधारा में मनन और चिन्तन, भावना और कल्पना; गम्भीरता और विनोद, विश्लेषण और संतुलन के विरोधी तत्व मिलकर एक हो गए हैं । उनका अध्ययन और चिन्तन स्मृति चित्रों की भाँति उभर कर नितान्त मार्मिक बन जाता है । भावों और शब्दों के ओल के साथ इतिहास, संस्कृति; धर्म काव्य और कला के अनेक प्रसंग कल्पना के क्षितिज पर मेघ - छाड़ों की भाँति मंडराते हैं और और रस की वर्षा कर अनन्त आकाश में विलीन हो जाते हैं । इतिहास और संस्कृति के क्रोड में खेलनेवाला कवि की भाव - प्रवण वाणी में हमें अपने साथ बहा ले जाता है । कुशल अभिनेता के समान उनकी विदग्ध भाव - भंगिमा पाठकों को अभिभूत कर

लेती है । संक्षेप मे य कहा जा सकता है कि गद्य को पाडित्य की गरिमा और कवित्व की सामर्थ्य को निकष बनाकर आचार्य द्विवेदी जी हमारी भाषा की विचार - साधना और रस क्षमता का संवर्द्धन करते है ।

आचार्य द्विवेदी जी साहित्यिक चिन्तन के साथ संस्कृति के भी उच्च कोटि के विचारक हैं । वस्तुतः उनका साहित्यिक चिन्तन और रसास्वादन संस्कृति के गम्भीर अध्ययन की अपेक्षा रखता है । शान्ति निकेतन के शान्त वातावरण मे उन्हें भारतीय और विदेशी - अनेक संस्कृतियों का अध्ययन का अवकाश प्राप्त हुआ है । इसके फलस्वरूप उन्होंने मानव के अद्यावधि विकास को संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में देखा है । प्राचीन और मध्य युगीन भारतीय संस्कृतियों मे जो गहन तत्व है, उनसे वे पूर्णतः परिचित है । वे संस्कृति को मनुष्यमात्र का अर्जन मानते हैं । उसके विकास क्रम में जातियों का योग है । उन्होंने 'भारतीय संस्कृति को देन' शीर्षक निबन्ध में व्यक्त किया है 'मैं संस्कृति को किसी देश - विदेश या जाति - विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता । एक ही सामान्य मानव संस्कृति हो सकती है । यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी हैं । नाना ऐतिहासिक परम्पराओं के भीतर से गुजर कर भौगोलिक परिस्थितियों मे रहकर संसार के भिन्न - भिन्न समुदायों ने उस महान मानवीय संस्कृति के भिन्न - भिन्न पहलुओं का साक्षात्कार किया है । नाना प्रकार की धार्मिक साधनाओं, कलात्मक प्रयत्नों और सेवा, मुक्ति तथा योगमूलक अनुभूतियों के भीतर से मनुष्य उस महान् सत्य के व्यापक और परिपूर्ण रूप को क्रमशः प्राप्त करता जा रहा है जिसे

हम 'संस्कृति' शब्द द्वारा व्यक्त करते हैं ।'[1]

आचार्य द्विवेदी जी ने भारतवर्ष को संस्कृतियों का संगम स्थान माना है । अपने निबन्ध 'संस्कृतियों का संगम' में उन्होंने उस भारतवर्ष का सांस्कृतिक जेलयात्रा की कल्पना की है जो महाकवि रवीन्द्रनाथ के शब्दों में महामानव समुद्र है और जिसकी गौरव - गाथा प्रागैतिहासिक काल की आदिवासी जातियों से लेकर आज तक अक्षुण्ण चली आती है ।

इस सांस्कृतिक जलयात्रा का एक अत्यन्त सुन्दर चित्र द्विवेदी जी ने अपने निबन्ध 'ठाकुर जी की बटोर' में हमारे सामने रखा है । यह एक प्रकार से प्राचीन भारत का शोध है । लेखक ने उस धर्म - भावना को प्रत्यक्ष करना चाहा है जो तीन हज़ार वर्षों से कोटि - कोटि नर - नारियों को शान्ति प्रदान कर रही है और जिसने बीसियों आर्येत्तर जातियों को मनुष्यता का पाठ पढाया है । नयी - नयी जातियों के प्रवेश से भारतीय इतिहास और संस्कृति में निरन्तर परिवर्तन और उद्वेलन दिखायी देता है । भारतीय संस्कृति मन्दिर में प्रतिष्ठापित देव - मूर्ति ने आर्येतर कितनी ही जातियों को आश्रय दिया है । शक, हूण, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर, यवन, ख़स, पठान, तुर्क मुगल आदि अनेक जातियों ने भारतवर्ष के इस सांस्कृतिक संगम को ऐतिहासिक वास्तविकता दी है । वैदिक युग से मध्य युग के वैष्णव - धर्म के प्रचार तक की विस्तृत भूमिका उनके इस चित्र में आ जाती है ।

आचार्य द्विवेदी जी के शब्दों में 'जातियाँ इस देश में अनेकों आयी

1- अशोक के फूल : आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-73

है । लड़ती झगड़ती भी रही है, फिर प्रेमपूर्वक बस भी गई हैं । सभ्यता की नाना सीढ़ियों पर खड़ी और नाना ओर मुड़ा करके चलने वाली इन जातियों के लिए एक सामान्य धर्म खोज निकालना कोई सहज बात नहीं थी । भारतवर्ष के ऋषियों ने अनेक प्रकार से अनेक ओर से इस समस्या को सुलझाने की कोशिश की थी । पर एक बात उन्होंने लक्ष्य की थी । समस्त वर्गों और समस्त जातियों का एक सामान्य आदर्श भी है । वह है अपने ही बन्धनों से अपने को बाँधना । मनुष्य पशु से किस बात में भिन्न है ? आहार निद्रा आदि पशु - सुलभ स्वभाव उसके ठीक वैसे ही हैं, जैसे अन्य प्राणियों के । लेकिन वह फिर भी पशु से भिन्न है । उसमें संयम है, दूसरे के सुख - दुख के प्रति संवेदना है, श्रद्धा है, तप है, त्याग है । वह मनुष्य के कार्य के उद्भासित बन्धन हैं । इसीलिए मनुष्य झाड़ - टल को अपना अदर्श नहीं मानता, गुस्से में आकर चढ़ - दौड़ने वाले अविवेकी को बुरा समझता है । और वचन, मन और शरीर से किए गए असत्याचरण को गलत आचरण मानता है । यह किसी खास जाति या वर्ण या समुदाय का धर्म नहीं है । यह मनुष्य मात्र का धर्म है ।'[1]

उनके विचार में 'भारतीय मनीषियों ने सफलता को महत्व नहीं दिया है । उन्होंने मनुष्य की चरित चरितार्थ को सर्वोपरि माना है । यह मनुष्य की चरितार्थता प्रेम में है, मैत्री में है, त्याग में है, अपने को सब के मंगल के लिए निःशेष भाव से दे देने में है ।'[2] इसे ही आचार्य द्विवेदी

1- कल्पलता - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0-7-8

2- - वही - पृ0-9

ने 'आन्तरिक शुचिता कहा है और उसे आज के युग के लिए अत्यन्त आवश्यक माना है ।'[1] यही धर्म का मूल तत्व है, ऐसी उनकी मान्यता है ।

आचार्य द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य के शोधी और अध्येता के रूप में मध्ययुगीन धर्म - साधनाओं का बड़ा विस्तृत अध्ययन किया है । इस अध्ययन का सार 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (1940) और 'हिन्दी साहित्य (1956) में इतिहास के विकास क्रम के सम्पूर्ण विस्तार के साथ मिलता है । परन्तु उनके चार विशिष्ट ग्रन्थ अपने व्यापक समारम्भ में इस विषय को उसके पूर्ण ऐश्वर्य के साथ पाठक के सामने प्रस्तुत करते हैं । मध्य युग के सिद्ध योगी सन्त, सूफी और भक्त जिन अनेक साधनाओं को लेकर चले हैं उनका विस्तार पूर्ण और प्रामाणिक इतिहास द्विवेदी जी के निबन्धों और लेखों में मिलेगा । जहाँ आचार्य शुक्ल ने साहित्य को रस - सिद्ध तक सीमित कर उसे शिक्षित वर्ग का वस्तु माना है वहाँ आचार्य द्विवेदी जी उसे सामान्य मानव के सुख दुख और राग - द्वेष की अभिव्यक्ति मानते हैं । फलस्वरूप उनकी चेतना में 'साहित्य' शब्द नया विस्तार कर लेता है तथा - मध्य युग के अपढ़ साधक एवं कवि उच्च कोटि के साहित्यकार बन जाते हैं ।

'कबीर' और 'सहज साधना' नामक ग्रन्थों को हम द्विवेदी जी की साहित्य साधना का सर्वोच्च सोपान मान सकते हैं, क्योंकि वे यहाँ आलोचक ही नहीं, इतिहासकार और भारतीय संस्कृति के अन्वेषक भी हैं । इन

1- कल्पलता - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0-146

रचनाओं में उन्होंने भारतीय आध्यात्मिक चेतना के ऐतिहासिक विकास, उसकी विभिन्न साधना - पद्धतियों और उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार किया है । मध्य - युग की साधना को 'सहज - साधना' के रूप में प्रतिष्ठित कर और उसे साम्प्रदायिक सीमाओं से बाहर निकाल कर आचार्य द्विवेदी जी ने भारतीय धर्म - साधना के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा है । उन्होंने अपनी इन रचनाओं में केवल भारतवर्ष को ही अपनी दृष्टि का केन्द्र नहीं बनाया है, वरन् अखिल मानवता के लिए समाधानों और निष्कर्षों की प्राप्ति की है । साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय वाद के परिणाम स्वरूप दो महायुद्धों ने मनुष्य की महिमा को जिस प्रकार कलंकित किया है वह प्रत्येक विचारवान के लिए चेतना का विषय हो सकता है । आचार्य द्विवेदी का कोमल हृदय सचमुच ही व्यथा से पीड़ित हो उठा है और उनके हृदय - मन्थन की झाँकी हमें इन सशक्त पंक्तियों में मिलती है - 'आज संसार का संवेदनशील चित्त इस भयंकर दुष्परिणाम से व्याकुल हो गया है । सारे संसार के साहित्य के निष्ठावान मनीषियों के मन में आज एक ही प्रश्न है - यही क्या वास्तविक मानवतावाद है जो मनुष्य को अकारण विनाश के गर्त में ढकेल रहा है ? उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमी स्वप्न दर्शियों ने तो इस देश के पिछले सौ के महान साहित्य-कारों ने क्या मानवता की इसी महिमा का प्रचार किया है ? आज नाना-स्तरों में वैचित्र्य - संवलित आकार धारण करके एक ही उत्तर मानव - चित्त की गम्भीरतम भूमिका से निकल रहा है - मानवतावाद ठीक है । पर मुक्ति किसकी ? क्या व्यक्ति - मानव की ? नहीं । सामाजिक मानवता-वाद ही उत्तम समाधान है । मनुष्य को - व्यक्ति मनुष्य को नहीं, बल्कि

समष्टि को - आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक शोषण से मुक्त करना होगा । आज के सुसंस्कृत मनुष्य की यही कामना है, यही उसके अन्तरतम की चाह है ।'[1]

किन्तु आचार्य द्विवेदी के विचार में मनुष्य की चाह आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक भूमिका पर ही समाप्त नहीं होती । मनुष्य की इच्छा - शक्ति का उन्मेष अत्यन्त रहस्यमय है । और वह गहरी भाव - भूमिका से ही सन्तुष्ट हो सकता है । यह भाव - भूमिका धर्म और अध्यात्म का विषय है । विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों ने धर्म और अध्यात्म के लिए नयी नयी साधनाओं ने धर्म और अध्यात्म के लिए नयी - नयी साधनाओं की कल्पना की है और उपासना की नई - नई पद्धतियों का आविष्कार किया है । सबसे बड़ा चीज़ है प्रेम की साधना, जिसके सामने अन्यान्य साधनाएँ नीरस और फीकी हैं । इन साधनाओं के विरोध में कहा जा सकता है कि इनसे व्यक्ति और समाज का क्या लाभ ? इस प्रश्न को आचार्य द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ 'सहज - साधना' के अन्तिम पृष्ठों में उठाया है और अपने ढंग पर एक समाधान भी प्रस्तुत किया है । उनके विचार में यह युग जड़ - विज्ञान का युग है तथा हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति उसी से होगी ।

परन्तु जिन प्रयत्नों से मनुष्य का चित्त - स्तर प्रभावित होता है, वे उनके विचार में अधिक महत्वपूर्ण हैं । वे कहते हैं - यह कोई नहीं कहता कि जड़-विज्ञान द्वारा प्राप्त सुविधाएँ मनुष्य को सुखी और समृद्ध नहीं बना सकती, किन्तु प्रयत्न जड़ोन्मुख नहीं होना चाहिए । चित्तमुख

1- स ज - साधना - आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-6

होना चाहिए । यही जड़ का लक्ष्य हो जाएगा : तो वह मनुष्य की वास्तविक मनुष्यता को ही दबोच देगा । मनुष्य का समस्त - आहार - विचार, समस्त मन और प्राण चिन्मुखी होकर सार्थक होता है, जडोन्मुख होकर अपने लिए और दूसरों के लिए कष्टकारक होता है । शरीर भी जड़ प्रकृति का विकार है, मन भी, बुद्धि भी : और बाह्य प्रकृति में दृश्यमान पदार्थ तो जड़ हैं ही । चित्त के संयोग के द्वारा इनमें विभिन्न गुणों का विकास हो रहा है ।'[1]

आधुनिक युग की यान्त्रिकता के अभिशाप के विरोध में उन्होंने भारत की आध्यात्मिक साधना को रखा है । उनके विचार में मानवतावाद उस समय तक अस्पष्ट एवं लक्ष्यहीन है जब तक वह आत्मिक और लोक - मंगलिक नहीं बनता । उनके शब्द हैं - 'सन्तों और भक्तों का वाणी का आज भी उपयोग है । वह मनुष्य पर मशीन के प्रभुत्व का प्रत्याख्यान करती है और इस बात पर जोर देती है कि जड़ोन्मुखी यांत्रिकता नहीं, बल्कि चिन्मुखी मानवता ही बड़ी चीज़ है । सिर्फ मानवतावाद एक अस्पष्ट और लक्ष्यहीन तत्ववाद है । चिन्मुखी मानवता का सिद्धान्त स्पष्ट और सोद्देश्य विचारवाद है ।'[2]

किन्तु आचार्य द्विवेदी जी की सांस्कृतिक चेतना धर्म और अध्यात्म तक ही समाप्त नहीं हो जाती । उन्होंने 'प्राचीन भारत का कला - विलास' और कालिदास की 'लालित्य - योजना' नामक ग्रन्थ लिखकर कला, साहित्य और संगीत के क्षेत्रों में उस सौन्दर्य - चेतना के विकास का इतिहास भी

1- सहज साधना - आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-101

2- - वही - पृ0-102

लिया है जो हमारी सामन्ती - संस्कृति की विशेषता है । कालिदास का साहित्य उन के लिए भारतीय सौन्दर्य - बोध का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है । इस सौन्दर्य - बोध के विकास की एक अत्यन्त सम्पन्न रूपरेखा निबन्ध में मिलती है । परन्तु वे सौन्दर्य को मांगल्य से अलग नहीं करते । फलतः यहाँ भी वे स्थूल प्रयोजन से ऊपर उठकर आत्मिक परितोष, मांगल्य और लोक - कल्याण की बात को प्रधानता देते हैं । वस्तुतः धर्म साधना और श्रृंगार साधना सम्बन्धी उनकी विचार धाराएँ एक दूसरे की पूरक है और दोनों के मूल में वह चैतन्य धारा है जो इस विश्व में व्याप्त है एवं मनुष्य में सर्जना की इच्छा के रूप में अभिव्यक्ति होती है । यह स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदी जी ने अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना के माध्यम से हमारी साहित्यिक चेतना को पुष्ट किया है और श्रेष्ठ साहित्य की समीक्षा के लिए कुछ ऐसे सांस्कृतिक मानदण्डों का निर्माण किया है जो सार्वभौमिक है ।

घ) द्विवेदी जी का ऐतिहासिक चिन्तन :-

इतिहास चाहे समाज का हो या साहित्य का उसके लेखक को कई प्रक्रियाओं में से गुज़रना पड़ता है । सर्वप्रथम इतिहासकार आधारभूत तथ्यों का संकलन करता है, फिर वह उन्हें काल क्रम से व्यवस्थित एवं वर्गीकृत करता हुआ प्रत्येक वर्ग की विशिष्ट प्रवृत्तियों के उद्गम एवं विकास की विवेचना करता है तथा तत्कालीन युग के परिप्रेक्ष्य में उनका मूल्यांकन करता है । इस प्रकार इतिहास लेखक का कार्य एक वैज्ञानिक शोध जैसा

कार्य है जिसमे सामग्री संकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण एवं संश्लेषण की विभिन्न प्रक्रियाओं का अवलम्बन करना पड़ता है । हिन्दी इतिहास - लेखन की विभिन्न प्रक्रियाएँ आचार्य शुक्ल तक सम्पन्न हो चुकी थीं, किन्तु एक कार्य शेष था, विभिन्न काव्य - धाराओं एवम् काव्य - प्रवृत्तियों के मूल उत्सों एवम् उद्गम स्त्रोतों की रूढ़ियों एवम् स्पष्ट व्याख्या करने का तथा प्राचीन काव्य का तत्कालीन युग की चेतना के आधार पर सम्यक् मूल्यांकन करने का कार्य आचार्य हजारी प्रसाद ने हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के क्षेत्र में अवतीर्ण होकर इस कार्य को पूरा करने का प्रयास किया । साहित्येतिहास लेखन की परम्परा में आचार्य द्विवेदी के योगदान को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :-

1) दृष्टिकोण की नवीनता
2) विभिन्न काव्य - धाराओं के उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में प्रचलित भ्रांतियों का निराकरण एवं तत्सम्बन्धी नए तथ्यों का निदर्शन
3) प्राचीन काव्य का नवीन मूल्यांकन ।

हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी नया दृष्टिकोण लेकर अवतरित हुए । द्विवेदी जी ने पूर्ववर्ती परम्पराओं एवं तत्कालीन वातावरण दोनों पर समान ध्यान दिया । उन्होंने हिन्दी साहित्य को इस्लाम प्रवेश की प्रतिक्रिया या हारी हुई हिन्दू जाति की कुंठा के रूप में न देखकर उसे पूर्ववर्ती परम्पराओं के सहज विकसित रूप में देखा । उन्होंने पूर्ववर्ती विद्वानों के दृष्टिकोण का तीव्र विरोध करते हुए लिखा है - "मैं इन दोनों बातों का प्रतिवाद करता हूँ । ऐसा करके मैं इस्लाम के महत्त्व को

भूल नहीं रहा हूँ लेकिन ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि ि अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बाहर आना वैसा ही होता जैसा आज है ।'[1]

इस प्रकार आचार्य द्विवेदी जी का यह दृष्टिकोण जहाँ नया है वहाँ स्वस्थ एवम् वैज्ञानिक भी है ।

भक्तिकाल की अनेक काव्य धाराएँ तो वैदिक युग से लेकर दसवीं शती तक के भारतीय साहित्य की अनेक दीर्घ परम्परा ो के प्रभाव से ओत-प्रोत है, ~~अतः उन्हें समझने के लिए केवल दीर्घ परम्पराओं के के प्रभाव से ओत - प्रोत है,~~ अतः उन्हें समझने के लिए केवल हिन्दी साहित्य का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है, पूर्ववर्ती भाषाओं के साहित्य का अध्ययन भी अपेक्षित है । आचार्य द्विवेदी जी इन अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त समर्थ हैं । इस लिए वे हिन्दी की अनेक काव्य धाराओं के उद्गम स्त्रोतों के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न भ्रान्तियों का निराकरण करने में तथा उनके उद्भव की नई व्याख्या करने में सफल हो सके हैं ।

इतिहासकार जहाँ ~~एक~~ ओर परम्पराओं के मूल उत्सों और उसके प्रेरणा - स्त्रोतों को खोजता हुआ उनके विकास को स्पष्ट करता है, वहाँ उन्हें काल - विशेष की पृष्ठभूमि में रख कर उनका मूल्यांकन भी करता है । आचार्य द्विवेदी इस दृष्टि से प्राचीन - काव्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त समीक्षक सिद्ध होते हैं । प्राचीन भाषाओं एवं साहित्य के ज्ञान के कारण वे हिन्दी के प्रारम्भिक काल की उन कृतियों को जिन्हें पूर्ववर्ती विद्वान साहित्यिक एवं साम्प्रदायिक ग्रन्थ मात्र घोषित कर चुके थे, पुनः साहित्य

।- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं साहित्य - डा० गणपति चन्द्र गुप्त

के क्षेत्र में प्रतिष्ठित करने में सफल हो सके । द्विवेदी जी ने न केवल हिन्दी साहित्य के इतिहास को विभिन्न काव्य - धाराओं के उद्गम स्रोतों को स्पष्ट करने में योग दिया है, अपितु विभिन्न वर्गों के साहित्य की भी नयी व्याख्या और नए मूल्यांकन के कार्य को आगे बढाया है ।

इतिहास के रूप में उन्होंने उसकी बाह्य चार दीवारियों एवं उसके संगठन ढाँचे में भले ही कोई परिवर्तन न किया हो किन्तु उसकी आधार भूत परम्पराओं, उसके अन्तर्निहित तत्वों एवं उसके विकास की सूक्ष्म रेखाओं में उन्होंने अत्यधिक परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं संशोधन करते हुए उसे नया रूप एवं नया वैभव प्रदान किया है । इसमें कोई सन्देह नहीं ।

आचार्य द्विवेदी ने अपने उपन्यासों में वातावरण के माध्यम से ऐतिहासिक कालविशेष के समग्र समाज का कलात्मक पुनर्सर्जन किया है । उन्होंने अपने उपन्यासों के माध्यम से तत्कालीन समाज की सम्पूर्ण श्रेष्ठ कलात्मक उपलब्धियों, कर्मकांडों, साहित्य-विनोद आदि का संश्लिष्ट एवम् ऐतिहासिक चित्र प्रस्तुत किया है । इतिहास में कल्पना का अपना विशिष्ट स्थान है । कल्पना - विहीन इतिहास केवल सूचीपत्र के रूप में ही जनता के सामने रह सकता है न कि इतिहास के रूप में । 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में कथावस्तु सम्राट हर्ष वर्धन के काल से ली गई है । इसके कुछ पात्र पूर्णरूपेण ऐतिहासिक है - जैसे : बाण, हर्षवर्धन, कृष्णवर्धन आदि । जितने भी स्थान इस उपन्यास में वर्णित है वे सब ऐतिहासिक हैं । परन्तु कार्य , कलाप और घटनाएँ काल्पनिक है । घटनाओं के पूर्ण रूप

से काल्पनिक होते हुए भी विद्वान लेखक ने उनको इस प्रकार से सजोया और वर्णित किया है एवं उसका सगुम्फन इस ढँग से किया है कि वह इस युग के और समाज के अनुरूप और उपयुक्त मालूम पड़ता है ।

द्विवेदी जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिवृत्तात्मकता नहीं दीख पड़ती । उन्होंने तत्कालीन ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर तत्कालीन स्थान, वातावरण, घटना, सामाजिक व्यवस्था और व्यवहारों का क्रम से एवं सजीव वर्णन किया है । इनके उपन्यासों में पात्र एवम् घटना अधिकतर काल्पनिक तथा कुछ ऐतिहासिक हैं किन्तु निष्कर्ष नया है जिसके द्वारा इतिहास अथवा संस्कृति की नयी व्याख्या उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है । इन्होंने अन्य ऐतिहासिक उपन्यासकारों की भाँति इतिहास को यथातथ्य रूप में नहीं लिया है । उदाहरण स्वरूप वृन्दावनलाल वर्मा रचित 'झाँसी की रानी' की कथा ज्वलन्त और मनोहारिणी घटना है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए रानी ने जो अतुलनीय शौर्य और साहस का प्रदर्शन किया है, वह आज की घटना के समान ही मालूम होता है । अँग्रेज़ों से उनका युद्ध और स्वराज्य की प्राप्ति के लिए आत्मोत्सर्ग कर देना इतिहास प्रसिद्ध एवम् सत्य घटना है । इस प्रकार यदि देखा जाए तो इस उपन्यास का सम्पूर्ण ढाँचा शुद्ध ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है । इतिहास के प्रति अधिक निष्ठा होने के कारण कहीं कोरी इतिवृत्तात्मकता आ गई है । परन्तु उसके विपरीत डा० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों में सम्पूर्ण कथानक कल्पना के सुदृढ़ आधार पर अवलम्बित हैं लेकिन इनका विस्तृत विवेचन करने पर यह मालूम होता है कि कथानक सही अर्थों में तत्कालीन - सामाजिक यथार्थ

से अभिभूत है । वास्तव में द्विवेदी जी के उपन्यासों का निष्कर्ष हिन्दू-संस्कृति के इतिहास के एक पृष्ठ की नवीन व्याख्या उपस्थित करना है ।

डा० द्विवेदी के सम्पूर्ण साहित्य में उनकी आत्मा व्याप्त है और भारतीय संस्कृति का गौरव निहित है । इनके उपन्यासों में जितनी साहित्यिक सामग्री है उससे कहीं अधिक उनमें इतिहास, संस्कृति, धर्म और दर्शन आदि के अमर तत्व उपलब्ध हैं । बाण ने अपने ग्रन्थों में हर्षकालीन संस्कृति को साकार कर दिखाया था, तो डा० द्विवेदी ने बाणभट्ट की आत्मकथा में बाण के शब्दों में ही उस युग का पुनर्निर्माण कर दिखाया है । डा० द्विवेदी के अनुसार ये काल (अर्थात् ऐतिहासिक तत्व) उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितनी उन कालों की सांस्कृतिक परम्पराएँ । उनकी काल्पनिक प्रतिभा ने हर्षकालीन एवं 12 वीं शती की संस्कृति का तो सतरंगा चित्र अंकित किया है, वह पाठ के लिए इतिहास, काव्य और कला की त्रिवेणी है । वास्तव में द्विवेदी जी ने सांस्कृतिक इतिहास का आधार लेकर अपने सभी उपन्यासों की रचना की है । उपन्यासों की रचना में उनकी दृष्टि अनुसंधानात्मक और समीक्षात्मक भी रही है । वास्तव में ऐतिहासिक विषय वस्तु के प्रस्तुतीकरण के लिए उन्होंने उपन्यासों की रचना की, अन्यथा सम्भव था कि वे उपन्यास न लिखते । आचार्य द्विवेदी के बारे में यह तो सर्वश्रुति है कि वे भारतीय संस्कृति के नए व्याख्याता थे ।

-- --- --

तृतीय अध्याय

क) आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय ।

ख) आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का जीवन - दर्शन ।

तृतीय अध्याय

क) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय :

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम साहित्य प्रेमियों के लिए नया नहीं है । अप्रतिम उपन्यासकार, निबन्ध लेखक और आलोचक आचार्य द्विवेदी के समूचे चिन्तन की आधारभूमि भारतीय संस्कृति और मानवतावाद थी । यद्यपि द्विवेदी जी ने केवल चार ही उपन्यास लिखे पर उन्होंने इस क्षेत्र में बहुत ही प्रसिद्धि पायी है जिनके बारे में संक्षिप्त वर्णन आगे दिया जा रहा है :-

'बाणभट्ट की आत्मकथा' : एक सशक्त ऐतिहासिक उपन्यास है । इसकी कथावस्तु सम्राट हर्षवर्धन के काल से ली गई है । इसके कुछ ही पात्र ऐतिहासिक हैं । स्थान को छोड़ कर समस्त काल और घटनाएँ काल्पनिक हैं । इस कृति में लेखक ने संस्कृत कवि बाण को चरित्र को आधार बनाया

है । भाषा - शैली और कथानक उसकी काल व शिल्पगत आवश्यकताओं के अनुरूप है । कथा बहुत कुछ आजकल की डायरी - शैली में लिखी गई है ।

राजनैतिक और धार्मिक वातावरण के प्रबल होने पर भी उपन्यास की मूल वृत्ति रोमांटिक है । 'बाणभट्ट की आत्मकथा' भी प्रेम के त्रिकोण वाली एक कहानी है । एक प्रेमी है, दो प्रेमिकाएँ । बाणभट्ट यद्यपि निपुणिका को पसन्द करता है पर उसके अन्तर का गूढ़ प्रेम भट्टिनी के प्रति ही है । अन्त में दिवोदास जो निपुणिका की मृत्यु करा कर उसे भट्टिनी और बाण के रास्ते से हटा देते हैं । कथा मिलन के द्वीप संकेत में समाप्त हो जाती है । इस संयोग में वेदना का गम्भीर स्वर मिला हुआ है । इस दृष्टि से उपन्यास का अन्त अत्यन्त मार्मिक है जिसकी कल्पना कोई विशाल शिल्पी ही कर सकता है ।

विभिन्न वर्गों - क्रियाओं, कलाकारों, धार्मिकों एवं राजनीतिज्ञों की स्वभावगत विशेषताओं के चित्रण में द्विवेदी जी को बड़ी सफलता मिली है । प्रमुख पात्रों में निपुणिका निम्न - वर्ग की पतिता स्त्री होने पर भी प्रेम की उत्कट गंध से आविष्ट है । भट्टिनी का मानसिक संघर्ष, सम्भ्रान्त कुल की महिमामयी बालिका के समान हुआ है । बाणभट्ट को लोग लम्पट, आवारा और अस्थिर चित्त का व्यक्ति समझते हैं जब कि वह अपने को पर-दुःख-कातरता, निर्भीकता और संयम की मूर्ति सिद्ध करता है । इन जटिल पात्रों के चरित्रों का निर्वाह अन्त तक बड़ी पटुता के साथ हुआ है ।

अन्तपुर सभा, उत्सव और सौन्दर्य आदि के लम्बे वर्णनों को देखकर इस वर्णन प्रधान कहने का मन करता है । कथा - मुख और उपसंहार में मिस कैथराइन, उनकी शीघ - यात्रा, उनकी बातचीत, उनके अपने देश लौटने और वहाँ से पत्र भेजने आदि के प्रसंग एकदम मतगढ़ंत हैं । कहानक के गठन में संस्कृत के अनेक ग्रन्थों का प्रभाव लक्षित होता है । भाषा अत्यधिक अलंकृत समास - प्रधान और तत्सम शब्दों के प्रयोग से बोझिल है । सब कुछ होते हुए भी यह अपने ढंग की एक कृति है ।

अन्त में यही कह सकते हैं कि बाणभट्ट की आत्मकथा सोद्देश्य रचना है । भारतीय संस्कृति और भारतीय नारी की महिमा से आधुनिक पाठक को अवगत कराना इसका मुख्य उद्देश्य है ।

'चारुचन्द्रलेखा':- हजारीप्रसाद द्विवेदी का दूसरा महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृति है जिसमें इतिहास और कल्पना का विलक्षण सम्मिश्रण पाया जाता है तथा उज्जयिनी के राजा सातवाहन और उसकी रानी चन्द्रलेखा को केन्द्र बनाकर विकसित होती है । कहानी की पूर्व - पीठिका के रूप में पृथ्वीराज चौहान, जयचन्द और परमाल की चर्चा आई है और चन्दबरदाई का पुत्र जल्हन इसका एक पात्र है । इस प्रकार मूल कथा मुहम्मद गोरी और उसके दो सेनापतियों कुतुबद्दीन ऐबक और इख्तियार उद्दीन मुहम्मद बिन बख्तियार की भारतवर्ष पर विजय के उपरान्त प्रारम्भ होती है । यही समय मंगोलों के आक्रमण का भी है । चंगेज़ खाँ (1165-1227) ख्वारिज़्म के शाह जलालुद्दीन का पीछा करता हुआ भारत तक आया

था । शाह की चर्चा उपन्यास में आयी है । इस प्रकार यह कहानी हिन्दू राज्य के ध्वस्त होने के साथ - साथ तुर्कों के आधिपत्य और बौद्ध धर्म के पतन काल से सम्बन्ध रखती है । साथ ही साथ भारतीय इतिहास की बारहवीं तेरहवीं शताब्दियों की राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालती है ।

उपन्यास का कथानक शिथिल और अव्यवस्थित ढंग का है । इसमें कथानक गौण हो गया है और वातावरण तथा विचार प्रधान बन बैठे हैं । राजनीति धर्म से अच्छादित है । लेखक सिद्धों और सिद्धियों के इतने अधिक विवरणों में चला गया है कि उनसे सृजनात्मक साहित्य की मूल वृत्ति कुंठित हो गई है । स्थान - स्थान पर अलौकिक रहस्यमय और आतंकपूर्ण स्थितियों का वर्णन मिलता है । पग - पग पर शैव - साधना, भूत - वेताल, मारण - मोहन, भैरवी - डाकिनी, घंटा-डमरू आदि की चर्चा है । लेखक शैवों और बौद्धों की तन्त्र - साधना की तुलना में वैष्णव - धर्म को अधिक श्रेयस्करमानते हैं । कथानक से यह ध्वनि निकलती है कि सांसारिक जीवन की सफलता सिद्धियों में नहीं, कर्म में है । द्विवेदी जी के अनुसार संगठित अत्याचार का सामना किया जा सकता है । देश, जाति और संस्कृति की रक्षा निरन्तर जागरूकता से ही सम्भव है । इसके लिए जन - जागरण की आवश्यकता है लेकिन यह ध्वनि बहुत क्षीण है और कृति का प्रधान स्वर नहीं है ।

चारुचन्द्रलेख धार्मिक रहस्यवाद से अनुप्राणित एक चमत्कार - प्रधान उपन्यास है । इसमें सामान्य जीवन का चित्रण ही नहीं अपनाया गया है

वरन् प्रत्येक प्रकार की साधना एवं सामाजिक स्थिति को आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के अनुसार विवेचना प्रस्तुत की गई है । कथा में सांस्कृतिक और धार्मिक तत्व हैं पर उन्हें आधुनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति के संसार से समावृत होना पड़ा है । हर तान्त्रिक साधना का मनोवैज्ञानिक अर्थ इस कथा में खोजा जा सकता है । कथा में ऐसे विचार भी मिलते हैं जो कि आधुनिक युग की देन है, पर सर्वत्र उन पर पुराने ढंग की भाषा का आवरण है । उपन्यास का मूल स्वर मध्यकालीन साधनाओं की व्याख्या एवं राजनैतिक विचारों के पतन की आलोचना है । इसमें राजपूत काल के अन्त तथा दिल्ली सल्तनत के प्रारम्भ के इतिहास की संघर्षमयी परिस्थितियों की झाँकी प्रस्तुत की गई है । डॉ० द्विवेदी ने एक काल्पनिक घुड़सवार राजा सातवाहन को नायक माना है और एक कल्पित चन्द्रलेखा को रानी एवं नायिका बनाया है । कथा में दो ही घटनाएँ हैं, धर्म-साधनाएँ तथा युद्ध-साधनाएँ। साधनाओं से सम्बन्धित सभी घटनाएँ काल्पनिक हैं जबकि उनसे सम्बन्धित कुछ पात्र नाटी माता, वीरशर्मा, जलन्धर और गोरखनाथ अवश्यक ऐतिहासिक हैं । इस प्रकार धर्म - साधनाएँ एक विशेष भूमिका र रखती हैं । जहाँ राजा, राज्य, राजनीति का सम्बन्ध है, वहाँ काल्पनिक राजा सातवाहन एवम् रानी चन्द्रलेखा के साथ कई ऐतिहासिक पात्र एवम् घटनाएँ गुंथी हैं ।

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में डा० द्विवेदी ने अपने कला, दर्शन और मर्यादा के आदर्श को प्रस्तुत करना लक्ष्य बनाया है परन्तु चारुचन्द्रलेख में सामाजिक दर्शन और धार्मिक साधनाओं के सर्वेक्षण विश्लेषण को अपना आदर्श

बनाया है । यद्यपि साधनाओं की भरमार के कारण कथातन्त्र ढीला पड़ गया है किन्तु दिल्ली के सुल्तान को छोड़कर सभी पात्र राजा और रानी की धुरी से बंधे हैं ।

'पुनर्नवा' समुद्रगुप्त के शासन काल (335-375) की घटनाओं पर आधारित उपन्यास है ।

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लोरिक और चंदा की प्रसिद्ध लोक गाथा तथा मृच्छकटिक नाटक के कथानक का उपयोग तो खुलकर किया है, कवि कालिदास और उनके नाटक अभिज्ञान - शाकुंतल के प्रसिद्ध विदूषक माढव्य को भी पात्रों में सम्मिलित किया गया है । एक तीसरा मिश्रण शैव और शक्ति साधना के आधार पर अलौकिक घटनाओं का है । इस प्रकार वीरता, प्रणय और दिव्यता का यह सामंजस्य लेखक की विद्वता और सहृदयता के सहयोग से पाठक को प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अभिभूत किए रहता है ।

मुख्य कथा गोपाल आर्यक, उसकी साहनी पत्नी, वेश्या - पुत्री मृणालमंजरी और उसकी उत्कट प्रेमिका चन्द्रा को लेकर विकसित होती है । आर्यक के बड़े भाई श्यामरूप और भाभी का प्रेम भी कम मार्मिक नहीं । लोक कथा में इन्हीं दोनों भाइयों को सवरूं और लोरिक कहा गया है । लोरिक के समान उसके गुरु आचार्य देवरात के जीवन में भी पत्नी शर्मिष्ठा और प्रेमिका मंजुला के प्रति आकर्षण का अन्तर्द्वन्द्व और भी सूक्ष्म और संयत रूप में वर्णित हुआ है । लेखक विवाह और प्रेम दोनों को एक साथ

मान्यता प्रदान करता है और पत्नी तथा प्रेमिका को पुरुष की दो आँखें बतला कर उनमें सामंजस्य घटित करता है ।

राजनैतिक घटनाओं के स्थल पाटलिपुत्र, मथुरा उज्जयिनी और हल-द्वीप हैं । इस हलचल के भीतर से लेखक ने सामाजिक, पारिवारिक और व्यक्तिगत समस्याओं को उभारा है और उनका समाधान धर्म की व्यापक भावना के अन्तर्गत खोज निकाला है । स्तर भेद होने पर भी लौरिक, चारुदत्त और देवरात की समस्याएँ एक जैसी हैं । पुनर्नवा उदात्त भावनाओं से पूर्ण वीरों, आचरणवान प्रेमियों और सतियों की गाथा है । वह अनुपम त्याग और सेवा की कहानी है । उसमें करुणा का जो स्वर व्याप्त है, वह पाठक के हृदय को द्रवीभूत करने में सक्षम है । सृष्टि में अशान्ति का कारण यह है कि मनुष्य की व्यवस्था विधाता की इच्छा से निरन्तर टकराती रहती है । इसलिए मनुष्य को समय के परिवर्तन के साथ अपनी व्यवस्था को बदलना होगा, इस प्रश्न को चन्द्रा की कहानी ज्वलंत रूप में उठाती है । उसका विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध एक नपुंसक से कर दिया जाता है लेकिन वह अपनी प्रबल जीवनी शक्ति के कारण सभी प्रकार के लाछन सहन कर अपने प्रेमी को प्राप्त करके ही रहती है ।

जैसे पुरुषों में देवरात, श्याम रूप, गोपाल आर्यक, मल्लिनाथ, चन्द्रगोलि (कालिदास) चारुदत्त, समुद्रगुप्त, भटार्क, भानुदत्त मुख्य हैं, वैसे ही महिलाओं में मंजुला, मृणालमंजरी, धृतादेवी, वसन्तसेना, चन्द्रा मादी (मदनिका) और शर्मिष्ठा आदि ।

इस उपन्यास में राजनीति, समाज, धर्म एवं काव्य अर्थात् वीरता प्रेम, करुणा, शील, सौन्दर्य, त्याग, सेवा आदि का ऐसा वर्णन किया गया है जिनका सम्मिलित योग एक ऐसे उदात्त - भाव को सृष्टि करता है जिससे मानवीय चेतना के परिष्कार के साथ मूल मानवीय समस्याओं का समाधान हो सके ।

'अनामदास का पोथा' हजारीप्रसाद द्विवेदी की नवीनतम औपन्यासिक कृति है एवं आख्यान उपनिषद् कालीन पृष्ठभूमि पर आधारित है । ग्रन्थ के नाम से यह भ्रम जन्मता है कि यह अनामदास जी कबीरदास, मलूकदास पलटूदास का परम्परा का कोई व्यक्ति होगा, जिसके किसी ग्रन्थ का सम्पादन करके आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने पेश किया होगा । लेकिन यह तो वे स्वयं हैं । आचार्य द्विवेदी ने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भी पाठकों को भ्रम में रखा था ।

अनामदास का पोथा के प्रारम्भ से 'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल' शीर्षक में नाम के महत्व पर प्रकाश डाला गया है । 'आचार्य द्विवेदी जी ने यह भी कहा है कि अनामदास के पोथे से लगता है कि उसके लेखक के भीतर का कवि सुप्त है । आलोचक आशंकित फिर भी कोई बात है जो आकृष्ट करती है ।' इसे आत्मस्वीकृति यदि मान लिया जाए तो भी इस कृति की अच्छाइयाँ इससे नहीं ढकती ।

कथा की शुरुआत उपनिषद् कालीन जंगल की पृष्ठभूमि से होती है जहाँ मातृ - पितृहीन रिक्व ऋषि के पुत्र रैक्व साधनारत हैं, उनके

दर्शन के लिए लोग आते हैं, कन्दमूल रख जाते हैं । एक दिन उन्हें अनुभव होता है कि समस्त को जो चैतन्य बनाए हुए है वह वायु है । वस्तुतः प्राण भी वायु ही है । उसी दिन शाम को जब वे स्नान करने के लिए नदी में जाते हैं तो बहुत प्रचण्ड आँधी आती है, मूसलाधार पानी बरसता है और वे भी फंसकर मार्ग भूल जाते हैं । जब वे लौटते हैं तो दूसरी दिशा में किसी गाँव के नज़दीक आ पहुँचते हैं, वहाँ उन्हें एक बैलगाड़ी टूटी मिलती है, बैल भाग गए हैं, गाड़ीवान मरा पड़ा था, गाड़ी से दस - पन्द्रह हाथ पर एक और जीव उसी तरह आँधी पानी से जूझता हुआ शिथिल मूर्छित पड़ा हुआ था, दरअसल वह मूर्छित पड़ी हुई थी लेकिन इस क्षण तक तापसकुमार को स्त्रीलिंग और पुलिंग का ज्ञान नहीं था, यह मूर्छित राजा जानश्रुति की पुत्री राजकुमारी जाबाला थी जो अपना नाम नायक रैक्व को शुभा बताती है, होश में आने के बाद बड़ी चिन्तन - युक्त आत्मज्ञान से संदर्भित विद्वतापूर्ण बातें करती है, अपने प्रथम दृष्टि के प्यार से रैक्व कहता है, 'वायु ही सब कुछ करा रहा है, मेरे भीतर जो प्राण - वायु है, वह तुम्हें देखकर बहुत चंचल हो गया है, तुम्हें दिखायी नहीं देता, पर मेरे भीतर भयंकर आँधी बह रही है -- - वह मेरे अन्तर्वर्ती प्राणवायु को तुम्हारे भीतर ठेल कर घुसा देना चाहती है ।'

राजा जानश्रुति अपनी बेटी का विवाह योग्य वर तलाशने की ज़िम्मेदारी आचार्य उद्दालकायन को सौंप देते हैं । वे रैक्व के ही मित्र आश्वलायन को इस योग्य मानते हैं, लेकिन जाबाला इस विवाह की स्वीकृति नहीं देती, आश्वलायन भी जबाला के प्रति आकर्षित है लेकिन जब उसे यह पता चलता है

कि रैक्व भी उसे ही चाहता है, तो वह पत्र लिखकर जाबाला का विवाह रैक्व से करने का अनुरोध करता है ।

आचार्य द्विवेदी की इस कृति से वर्तमान परिस्थितियों के प्रति कोई सन्देश देने का प्रयत्न नहीं किया गया है । उनका मानवतावादी दृष्टिकोण तो उजागर है, वे बुद्धि की परीक्षा दीन - दुखियों की सेवा से करने का आग्रह करते हैं ।

आचार्य द्विवेदी ने इस औपन्यासिक कृति के द्वारा मानव - मन की भावनाओं का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण किया है । इस उपन्यास के द्वारा यह बात स्पष्ट झलकती है कि जो व्यक्ति संसार के प्रति शुरू से विरक्त रहता है उसे अन्तिम समय में सांसारिकता आकर्षण खींच लेते हैं और उस का मन पर काबू पाना इतना कठिन हो जाता है कि आखिर वह निर्णय ले लेता है कि अब उसे सांसारिक गतिविधियों को जान लेना ही अच्छा है नहीं तो जीवन यूँ ही व्यर्थ में व्यतीत हो जाएगा । यही स्थिति रैक्व की होती है क्योंकि वह आरम्भ में तपस्वी के रूप में होता है लेकिन होनी पर किसी का बस नहीं चलता । और वह संसार के प्रति आसक्त होकर राजकुमारी जाबाला के साथ एक नवीन जीवन की प्रेरणा लेकर सांसारिक गठ - बन्धनों में इस प्रकार जुट जाता है कि उसे वास्तविक तपस्या का मूल अर्थ समझ आ जाता है और वह दिन - रात भूखे, नंगे और बेसहारों की सेवा में लीन हो जाता है तथा जितना हो सके उतना समय पूरी तरह से सेवारत रहता है ।

ख) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का जीवन - दर्शन :-

द्विवेदी जी के लिए साहित्य मात्र ललित कला अथवा आनन्द की

साधना न रहकर मानव - मुक्ति का साधन हो जाता है, जब वह कहते हैं कि 'मनुष्य को सब प्रकार से सुखी बनाना, उसे आर्थिक गुलामी से मुक्त करना, रोग शोक के चंगुल से छुड़ाना, सब शास्त्रों और विद्याओं का प्रधान लक्ष्य है । निश्चय ही यह वक्तव्य उनकी ऐतिहासिक समझ का प्रमाण पेश करता है : अपने समकालीनों में द्विवेदी जी ही एकमात्र ऐसे चिन्तक हैं, जो साहित्य के माध्यम से आर्थिक गुलामी से मुक्ति की बात करते हैं ।

हज़ारी प्रसाद द्विवेदी एक मानवतावादी साहित्य चिन्तक हैं । उनके मानवतावाद का स्वरूप मूलतः आदर्शवादी है, जिसका निर्माण गान्धी युग (1920-40) में हुआ था । उस युग के चिन्तन के अधिकांश गुण - दोष उनके भी चिन्तन में विद्यमान हैं । सन् 1920 के बाद भारतीय राजनीति की बागडोर महात्मा गान्धी के हाथों में आ गई थी । इसे यूँ भी कहा जा सकता है कि तिलक की मृत्यु के बाद भारतीय राजनीति का रुख मध्य मार्गी हो गया था और तिलकवादी राजनैतिक जन - लगभग पृष्ठभूमि में चले गए हैं । थोड़े बहुत उतार - चढ़ाव के साथ सन् 1947 तक इसी का प्रभाव भारतीय राजनीति पर बना रहा । कहना न होगा कि गान्धी जी की राज - नीति में कई विसंगतियाँ थी, जिनके कारण जीवन, अर्थनीति, समाज और संस्कृति के बारे में उनके विचारों में काफी अन्तर्विरोध थे । वह राजनीति को अध्यात्म का जामा पहना कर ले चलना चाहते थे किन्तु उनके वह निजी विचार तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक शक्तियों के बीच अन्तर्द्वन्द्व पर नियन्त्रण पाने तथा उन्हें सुलझाने में असमर्थ रहे और अन्ततः देश को

विभाजन का मुँह देखना पड़ा था ।

उनकी तमाम सद् - इच्छाओं के बावजूद देश में साम्प्रदायिक तनाव कम नहीं हो सका था । अपने चिन्तन की तमाम असंगतियों के बावजूद गान्धी जी ने अपने युग के अनेक भारतीय साहित्यकारों, समाजशास्त्रियों और अर्थ शास्त्रियों को प्रभावित किया था, अतः द्विवेदी जी का उनके चिन्तन से प्रभावित होना स्वाभाविक था । वह गान्धी जी के चिन्तन में आए अन्तर्विरोधों से बच सकते थे, किन्तु उस चिन्तन की असंगतियों का उजागर करने वाला जो भौतिकवादी चिन्तन है, उससे आचार्य जी का सम्पर्क काफी बाद में हुआ ।

आचार्य द्विवेदी जी का साहित्यिक व्यक्तित्व मुख्यतः इसी राजनैतिक पृष्ठभूमि में निर्मित हुआ था । इसका स्वरूप था - आधा यथार्थ, आधा आदर्श, आधा लौकिक, आधा अलौकिक, आधा भौतिक और आधा आध्यात्मिक उनके साहित्यिक आदर्शों का निर्माण मुख्यतः 1920 और 1935 के बीच हुआ था और 1940 तक उसमें काफी प्रौढ़ता आ गई थी । उनके जीवन के विकास को रेखांकित करने वाली प्रमुख तिथियों को देखने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है । 1907 में जन्म, 1920 में शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण की, जब वह कुल लगभग 13 वर्ष के थे । सन् 1930 में जब ज्योतिष को लेकर आचार्य की परीक्षा पास करने के बाद शान्ति निकेतन के अध्यापक के रूप में जीवन की शुरुआत की और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर आचार्य क्षिति मोहन सेन, विधु शेखर भट्टाचार्य जैसे विद्वानों का सम्पर्क मिला । सन् 1940 में शान्ति निकेतन में ही हिन्दी भवन के निर्देशक नियुक्त हुए । 1950 में काशी हिन्दी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर तथा

अध्यक्ष होकर आए ।

उसके बाद सरकारी, गैर - सरकारी अनेक पदों पर रहकर हिन्दी की सेवा की । उनकी आरम्भिक रचनाओं 'सूर साहित्य' ।936 तथा 'कबीर' (1942) में जगह - जगह उनकी मानवतावादी दृष्टि के दर्शन होते हैं, जिसमें यथार्थ और कल्पना का विचित्र संयोग दिखाई देता है । इस पर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और टालस्टाय जैसी साहित्यिक हस्तियों की मानवतावादी दृष्टि का छाया को स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है । इन दोनों ही रचनाकारों की कृतियों में यथार्थ का समुचित चित्रण इसलिए नहीं हो सका है क्योंकि दोनों ही आदर्शवादी कलाकार थे और सामाजिक यथार्थ को उसके नग्न रूप में देखने की क्षमता इनमें नहीं थी ।

सन् ।936 और ।937 साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण तिथियाँ हैं, जब 'कामायनी' और 'गोदान' का प्रकाशन हुआ । यदि इन दोनों रचनाओं को प्रतीक रूप में लिया जाए तो कहा जा सकता है कि उस जमाने के मुताबिक एक में चरम आदर्शवादी (भाववादी) और दूसरी रचना में यथार्थवादी (वस्तुवादी) साहित्यिक प्रवृत्तियों का ध्रुवीकरण साफ नजर आता है किन्तु यह बात किसी अकेले एक रचनाकार में पूरी तरह प्रतिफलित हो भी नहीं सकती थी । अधिकांश रचनाकारों एवं समीक्षकों की रचनाओं और समीक्षाओं में इन दोनों का विचित्र संयोग दिखायी देता है । आचार्य द्विवेदी जी भी इसके अपवाद नहीं हैं । उनकी मानवता वादी साहित्यिक दृष्टि भी इसी कोटि की है । उसमें यथार्थ और कल्पना का द्वन्द्व

बराबर बना रहता है । लेकिन परवर्ती चिन्तन में उनकी यह दृष्टि विकसित परिवर्तित होती गई है । कल्पना का स्थान धीरे - धीरे यथार्थ लेता गया है ।

उनके चिन्तन में आदि से अन्त तक केन्द्रीय स्थान मनुष्य का है जिसे अलग - अलग लोगों ने अलग - अलग नाम दिए हैं । साहित्यिक समीक्षा के रूप में आलोचकों ने उन्हें स्वच्छन्दतावादी समीक्षक माना है ।

किन्तु उनकी समीक्षा में सामाजिक पक्ष के आग्रह को बार - बार देखकर कुछ लोगों ने उन्हें 'समाजशास्त्रीय मानववादी' कहा है ।

इसके लिए कारण यह बताया गया है कि 'तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में सांस्कृतिक गतिविधि, लोक - जीवन, राजनैतिक हलचल आदि के बीच रहकर ही साहित्य का परीक्षण करना साहित्य समीक्षा की समाज - शास्त्रीय पद्धति है ।' किन्तु द्विवेदी जी के साहित्यिक चिन्तन को इस प्रकार के संकीर्ण खानों में नहीं रखा जा सकता । उनके चिन्तन में अनेक ऐसे तत्व है जो पारिभाषिक अर्थ में इन दोनों ही श्रेणियों में नहीं रखे जा सकते हैं ।

द्विवेदी जी की आदर्शवादी मानवीय (इसे कुछ लोग भाववादी भी कहते हैं) दृष्टि मध्यकालीन भक्त, सन्तों और रवीन्द्रनाथ ठाकुर से मिली थी । गान्धी जी के आन्दोलन से उसमें राष्ट्रीयता और गैर - साम्प्रदायिकता के तत्व जुड़े थे । प्राचीन साहित्य के अध्ययन - मनन तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की जानकारी ने उनकी दृष्टि का नया संस्कार किया था । हमें पता है कि मध्यकालीन सन्तों ने 'मानुष' सत्य को सभी सत्यों के ऊपर

प्रतिष्ठित किया था । आचार्य द्विवेदी ने इसको अपने चिन्तन में गम्भीरता से उतारा था लेकिन ज्यों का त्यों नहीं । नई ऐतिहासिक दृष्टि के आलोक में द्विवेदी जी ने इसे नया रूप दिया था । इसे अपने समय के यथार्थ के बहुत निकट लाने का प्रयास किया था । मध्यकालीन मानववादी दृष्टि से वह इस अर्थ में भी भिन्न था कि द्विवेदी जी व्यक्ति मानव की मुक्ति के बाद सामूहिक मानव की मुक्ति का स्वप्न अपनी बाद की रचनाओं में देखने लगे थे । मानव - मुक्ति की यह कल्पना समाजवादी विचारधारा के चिन्तकों की देन थी ।

साहित्य के उद्देश्य को [illegible] स्पष्ट करते समय उनकी दृष्टि कहीं-कहीं अधिक यथार्थ - परक और भौतिकवादी हो जाती है । उनका साहित्य मात्र ललित कला अथवा आनन्द की साधना न रहकर मानव मुक्ति का साधन हो जाता है, जब वह कहते हैं कि 'मनुष्य को सब प्रकार से सुखी बनाना, उसे आर्थिक गुलामी से मुक्त करना, रोग शोक के चंगुल से छुड़ाना सब शास्त्रों और विद्याओं का प्रधान लक्ष्य है ।'

निश्चय ही यह वक्तव्य उनकी नई ऐतिहासिक समझ का प्रभाव पेश करता है । अपने समकालीनों में द्विवेदी जी ही एकमात्र ऐसे चिन्तक हैं जो साहित्य के माध्यम से मानव को आर्थिक गुलामी से मुक्ति की बात कहते हैं । यह बात रवीन्द्र में तो नहीं, टालस्टाय में थी । यहाँ द्विवेदी जी रवीन्द्र की तुलना में टालस्टाय के - ज़्यादा निकट हैं । यह बात नोट करने की है कि मध्यकालीन सन्तों के समक्ष आर्थिक मुक्ति की समस्या नहीं है ।

वह तो मनुष्य के कर्म-काण्डों से, रूढ़ियों से मुक्ति का सन्देश देता है, किन्तु आचार्य जी की दृष्टि में आर्थिक मुक्ति के बिना मनुष्य की कोई भी मुक्ति अधूरी नज़र आती है ।

मानवतावादी दृष्टि को उजागर करने वाले इस प्रकार के वक्तव्य उनकी आरम्भिक समीक्षात्मक और रचनात्मक कृतियों में जगह - जगह बिखरे पड़े हैं । इससे पता चलता है कि साहित्य को वह किस प्रकार मानव - प्रयोजनीयता और मानव - मुक्ति से जोड़कर देखने के समर्थक हैं । इस सन्दर्भ में उनके कुछ वक्तव्य यहाँ दिए जा रहे हैं जैसे :- 'मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ । जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोद्दीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को पर दुख कातरता और संवेदन शील न बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है ।'

इन वक्तव्यों से साफ़ ज़ाहिर होता है कि द्विवेदी जी साहित्य से बहुत बड़ी अपेक्षा रखते हैं । यह उनके लिए मानव की मुक्ति का साधन है ।

यह मात्र संयोग नहीं है कि आचार्य जी साहित्य से बहुत कुछ अपेक्षा रखते हैं और इन समस्त अपेक्षाओं के केन्द्र में मनुष्य खड़ा रहता है । इसको दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचाना वह साहित्य का काम मानते हैं । जिस साहित्य में यह सब करने की क्षमता नहीं है वह सिर्फ़ वाग्जाल है । उनकी इस मानवतावादी दृष्टि की कोई सीमा नहीं है । उसका क्षेत्र समस्त मानव - जीवन है । वह यह मानते हैं कि 'हमारे सारे प्रयत्नों

मनुष्य के लिए हैं । हमारे सब प्रयत्नों का एक ही लक्ष्य है कि मनुष्य वर्तमान दुर्गति के पंक से उद्धार पाए और भविष्य में सुखी और शान्ति से रह सके । मनुष्य के लिए ही साहित्य, दर्शन और इतिहास तथा राजनीति आदि बनते हैं ।'

और साहित्य की रचना भी दूसरे अन्य भले कार्यों के समान मनुष्य को सुखी बनाने के लिए की जाती है । वह शास्त्र, वह रस ग्रन्थ, वह कला, वह नृत्य, वह राजनीति, वह समाज - सुधार और वह पूजा - पाठ जंजाल मात्र है जिससे मनुष्य का भला न होता हो ।'

इसमें लक्षित करने की बात यह है कि मानव - कल्याण के लिए किए जाने वाले जितने तरह के प्रयास हैं साहित्य उन्हीं में से एक माना गया है । इतना ही नहीं, यहाँ साहित्य को उन्होंने यथार्थ के इतना करीब लाकर खड़ा कर दिया कि साहित्य में अभिजात्य और अतीन्द्रिय सौन्दर्य खोजने वाले आलोचकों को यह सब घोर असाहित्यिक और 'उपयोगितावादी' लग सकता है क्योंकि कुछ चिन्तकों के लिए साहित्य का सौन्दर्य का जीवन के दैनिक सुख - दुख से कुछ लेना देना नहीं होता है, किन्तु आचार्य द्विवेदी साहित्य को भी मानव - मुक्ति का विधायक मानते हैं । इस लिए उन्हें साहित्य से इस बात की भी अपेक्षा है । सम्भवतः इसी वजह से उन्होंने साहित्य को कोई विशेष दर्जा नहीं दिया है उनके चिन्तन में विशेष दर्जा यदि किसी को मिला भी है, तो वह है - मनुष्य और उसकी मुक्ति ।

जैसा कि विदित है कि द्विवेदी जी के स्वप्न दर्शी मानवतावादी संस्कारों की नींव गान्धी युग में पड़ चुकी थी । साहित्य में वह छायावादी युग था, जहाँ सब कुछ आधा कल्पना, आधा यथार्थ था । इसलिए उनकी इस काल की रचनाओं में बार - बार मनुष्य का ज़िक्र आया, किन्तु वह अपरिभाषित व्यक्ति के चित्र हैं । उनका यह मनुष्य गान्धी जी के आदर्शों की तरह ही कल्पना और यथार्थ का मेल है जिसकी पहचान साफ नहीं है क्योंकि उसमें अमूर्त तत्वों की प्रधनता है । उनके मानवतावादी परवर्ती संस्कारों का निर्माण और आरम्भिक चिन्तन की परिपक्वता नेहरू युग की देन है जिसमें व्यक्ति की मुक्ति को लेकर की गई द्विवेदी जी की जितनी कल्पनाएँ थीं, वह सब यथार्थ के चट्टानों से टकराकर चूर - चूर होती दिखाई पड़ती है । इसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है कि यह काल विश्व पूंजीवाद के क्रमशः ह्रास का है । अतः यदि व्यक्ति मानव की मुक्ति की बात को लेकर द्विवेदी जी का भी मोहभंग हुआ हो, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । वह पूंजीवादी प्रजातन्त्र की सीमित उपलब्धियों को स्वीकारते हुए भी उससे पूर्णतः आश्वस्त नहीं है । इसलिए पहले की रचनाएँ जहाँ अमूर्त मानव (या महामानव) की अतिरिक्त रुकता के आस - पास चक्कर काटती रही है, वहीं पर परवर्ती रचनाएँ अपने लिए यथार्थ की ज़मीन खोजती गई है ।

उनकी परवर्ती रचनाओं और निबन्धों को पढ़ने से यह साफ ज़ाहिर होता है कि उनकी मानववादी दृष्टि का उत्तरोत्तर विकास होता गया है । वस्तुतः द्विवेदी जी अत्यन्त सजग चिन्तक थे । वह अपने आस - पास हो रहे परिवर्तन को बड़ी पैनी दृष्टि से देखते और समझते थे । शास्त्रों से

ज़्यादा जीवन जगत की वास्तविकता का अध्ययन - मनन कर अपने शास्त्रीय ज्ञान में आवश्यक सुधार तथा परिष्कार करने की प्रवृत्ति उनकी रचनाओं में सर्वत्र विद्यमान है । इसलिए उनके साहित्य में बार - बार आने वाला 'व्यक्ति - मनुष्य' बाद में 'समूह मनुष्य' के निकट पहुँचता दिखाई पड़ता है । उसका आदर्शवादी मानववाद जब आज के यथार्थ से मेल खाता है नहीं दिखता, तब उनको लगने लगता है कि सिर्फ 'व्यक्ति मानव' ही पर्याप्त नहीं है । समाज के पूँजीवादी प्रजातन्त्र के वास्तविक चरित्र को लगता है कि उन्होंने कुछ - कुछ पहचान लिया था । उसमें स्वतन्त्रता का इस्तेमाल कुछेक लोग ही कर पाते हैं । इस बात को वह अच्छी तरह समझने लगे थे । उन्हें साफ नज़र आने लगा था कि 'व्यक्ति मानव' की मुक्ति अधूरी मुक्ति है । सन् 1960 के बाद प्रकाशित उनके लेखों और रचनाओं को पढ़ने के बाद यह बात और साफ होने लगती है । उनकी दृष्टि से आदर्शवाद का कोहरा छटने लगता है । उनके चिन्तन में जिस मनुष्य का बार - बार ज़िक्र होता है, उसका रूप बदलने लगता है, वह आदर्श से यथार्थ के निकट जाने लगता है, उसकी परिभाषा बदलने लगती है है । बदलते हुए सामाजिक यथार्थ को उनकी समझ बहुत साफ हो जाती है । परम्परा और आधुनिकता की व्याख्या करने के क्रम में वह यह कहना नहीं भूलते कि 'आधुनिक समाज ने निश्चित रूप से मनुष्य की (यानी व्यक्ति मानव की - ले0) महिमा स्वीकार कर ली है । अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है - सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति । अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी ।'

और यह मात्र संयोग नहीं है कि इस निबन्ध में आगे चलकर जब

वह आधुनिकता के तीन लक्षणों की चर्चा करते है, तब उनकी दृष्टि पुनः समूह मानव के ऊपर आकर टिकती है । वह लिखते हैं कि 'आधुनिकता के तीन लक्षण स्पष्ट हैं - एक ऐतिहासिक दृष्टि, दूसरा यह है कि इसी दुनिया के मनुष्य को सब प्रकार की भ्रांतियों और पराधीनता से मुक्त करके सुखी बनाने का आग्रह और तीसरा यह है कि व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव या सम्पूर्ण मानव - समाज की कल्पना ।'

कविता की व्याख्या हो या नाटक की आलोचना या उपन्यास का विवेचन या किसी अन्य विधा पर लिखी गई पुस्तक, उनके चिन्तन में आए हुए परिवर्तन को इस जगह अनदेखा नहीं किया जा सकता । इस परिवर्तन का ही फल है कि आगे चलकर वह एक विराट समन्वयशील संस्कृति की कल्पना करते दिखाते हैं । एक जगह गुरु नानक देव के महत पदों की सराहना करते हुए वह कहते हैं कि 'समन्वय का अर्थ यह है कि हम मनुष्य की मूल एकता को स्वीकार करें और उस विशाल मानवतावादी दृष्टि को अपनाएँ, जो समग्र मनुष्य जाति को सामूहिक रूप से नाना प्रकार की कुशिक्षा कुसंस्कार, अभावों के बन्धन से मुक्त करके उसे जीवन को श्रेष्ठतर चरितार्थता की ओर ले जाने की प्रयास कर रही है । गुरुनानक ने इस मूल तत्व को पकड़ा था ।'

इस वक्तव्य में अन्तिम वाक्य रेखांकित करने योग्य है । उनका यह समन्वय बेमेल तत्वों के बीच का समझौता मात्र नहीं है । वह मानवता की सामूहिक मुक्ति के लिए संघर्षरत सम्पूर्ण मानव समुदाय के सम्मिलित

प्रयासों का पर्याय है । मानव को इस मूल एकता को प्राप्त करने के लिए अभावों की खाई को पाटना होगा । बहुत बड़े आर्थिक, सामाजिक बदलाव को लाना होगा । आज के सन्दर्भ के मुताबिक यदि कोई नई शब्दावली का इस्तेमाल करे तो हम कह सकते हैं कि सामूहिक मुक्ति के बिना शोषण मुक्त समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है और इसके अभाव में मानव - समाज में किसी भी प्रकार के समन्वय की कल्पना नहीं की जा सकती है ।

आचार्य द्विवेदी की मानववादी दृष्टि का क्रमशः विकास हुआ । उनकी आरम्भ की रचनाओं में आने वाला व्यक्ति मानव सामूहिक मानव में बदलता गया । इसको और स्पष्ट रूप से समझने के लिए 'मानव - व्यक्ति के बारे में उनकी धारणा को जानना ज़रूरी है । उनकी इस धारणा में भी क्रमशः परिवर्तन हुआ जिसकी चर्चा ऊपर की गई है । सभी तरह के मानववादी चिन्तकों ने जहाँ मनुष्य की भलाई या उत्थान की बात की है, वहीं उसके गुणावगुणों, उसके व्यक्ति तत्व की भी चर्चा की है । आचार्य द्विवेदी ने जहाँ भी और जब भी मनुष्य की चर्चा की है उनके मन में उसका एक रूप अवश्य रहा है । समीक्षा में यह उतना स्पष्ट नहीं है जितना उनके उपन्यासों में ।

द्विवेदी जी ने किसी समाज शास्त्रीय या मनोवैज्ञानिक की तरह से कहीं अलग से मनुष्य के व्यक्तित्व को परिभाषित नहीं किया है । ऐसा करने साहित्यकार का कभी उद्देश्य हो नहीं होता । प्रत्येक साहित्यकार के मन में मनुष्य के व्यक्तित्व की एक कल्पना होती है जिसे वह अपने ऐतिहासिक

अनुभवों से प्राप्त करता है । वही उसके चिन्तन में जगह - जगह प्रकट होती है । द्विवेदी जी का जो आदर्श मनुष्य है, वह समग्र मनुष्य है । वह विभिन्न वर्गों, धर्मों, सम्प्रदायों, कर्मों, जातियों और राष्ट्रों आदि की सीमा में बंटा - बंधा मनुष्य नहीं है । अनेक स्थलों पर बार - बार तर्क तथा उदाहरण देकर उन्होंने इसे प्रमाणित करने का प्रयास किया है । विभिन्न जातियों और देशों के बीच आदि काल से सांस्कृतिक तत्वों का आदान प्रदान होता आया है और इस आदान प्रदान की तह में मानव सत्य है, जो न तो एक देशीय है और न एक जातीय । मनुष्य की व्याख्या करते समय, उसके ऊपरी सतह पर धर्म, आचार परम्परा वैशिष्ट्य वर्ग, मनोविज्ञान आदि भेदों को वह मानते तो हैं, किन्तु उनका यह भी कहना है कि भिन्नता ऊपरी है ।

और इसलिए वह इसमें इतना और जोड़ना नहीं भूलते कि 'मनुष्य को मनुष्य बनाना ही समस्त ज्ञान - विज्ञान का लक्ष्य है । जो पशु सामान्य समस्त क्षुद्र स्वार्थों से मुक्त परम प्रेम स्वरूप है ।'

स्पष्ट है कि द्विवेदी जी का यह मनुष्य मध्यकाल का मनुष्य नहीं है न आज का खंडित व्यक्तित्व वाला लक्ष्मीकान्त वर्मा का लघु मानव ही है । वह एक आदर्श समाज का (जो अभी हम बना नहीं सके हैं) आदर्श मनुष्य है । ऐसा लगता है कि राजनीति में जिस प्रकार के शुद्ध एवं नैतिक आदर्शों से पूर्ण व्यक्तित्व की कल्पना गान्धी जी ने की थी, उसी प्रकार के या उससे मिलते - जुलते व्यक्तित्व की कल्पना साहित्य में आचार्य जी ने की थी । इसमें किसी प्रकार का आश्चर्य भी नहीं होना चाहिए क्योंकि ऊपर

कह आए हैं कि उनके संस्कारों का निर्माण गान्धी युग में हुआ था। जाने अनजाने गान्धी जी का प्रभाव द्विवेदी जी के चिन्तन में बहुत साफ-साफ दिखाई पड़ता है। आचार्य द्विवेदी का यह निष्कर्ष हमारे इस कथन का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि 'व्यक्ति के विराट प्रयत्नों के मूल में कुछ व्यक्तिगत तथा समूहगत विश्वास होते हैं, परन्तु जब वे उस संस्कार जन्य प्रयोजन की सीमा का अतिक्रमण करते हैं तब उसमें मनुष्य की विराट् एकता और अपार जिजीविषा का ऐश्वर्य प्रकट होता है, फिर वह किसी समूह में आबद्ध न होकर, मनुष्य मात्र की सम्पत्ति हो जाता है।' और इसी अर्थ में दूसरों के साथ तादात्म्य या एकत्व की अनुभूति को उन्होंने मनुष्य की चरम मनुष्यता कहा है, जिसके मिलने से जीवन का साधारण दुख सुख बन जाता है समस्त व्यवहारों का अर्थ बदल जाता है।---

हम पाते हैं कि मनुष्य की व्याख्या करते समय द्विवेदी जी की कल्पना में सदैव आदर्श मनुष्य ही रहा है। सामान्य मनुष्य या समस्त बन्धनों से मुक्त मनुष्य को बन्धनों से मुक्त करके उच्चता के इस बिन्दु तक पहुँचाना उनका उद्देश्य है। उसके बन्धनों तथा संस्कारों के स्रोतों के यथार्थ में उतर कर उसे देखने का उन्होंने प्रयास नहीं किया है। उनके लिए न यह सम्भव था, न उनसे इसकी अपेक्षा ही की जा सकती थी। इसलिए तमाम यथार्थवादी रुझानों के बाद भी हम पाते हैं कि मानव-व्यक्तित्व की उनकी व्याख्या मूलतः आरम्भ से अन्त तक आदर्शवादी बना रहता है।

कोई भी ऐसा साहित्यिक चिन्तक नहीं होता जिसकी रचना के सौन्दर्य-बोधात्मक पक्ष से कोई सरोकार न हो। साहित्य के सौन्दर्य-

बोधात्मक पक्ष पर उनके विचार आये बिना द्विवेदी जी के मानवतावादी दृष्टिकोण की जानकारी अपूर्ण रह जायगी । अतः सूत्र रूप में यहाँ उसकी चर्चा आवश्यक है । सौन्दर्य बोधात्मक पक्ष के भी कई रूप साहित्यिक चिन्तन में देखने को मिलते हैं । कुछ साहित्यकार इसकी व्याख्या के क्रम में रचना के नितान्त व्यक्तिगत और अन्तर्मुखी पक्ष पर ध्यान देते हैं, उसे भौतिक शक्तियों से निरपेक्ष और स्वतन्त्र या स्वायत्त मानते हैं और कुछ इसके विपरीत । आचार्य द्विवेदी जी ने सौन्दर्य - बोध शास्त्र को ज्ञान की अन्य शाखाओं की तरह यानी समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि मनुष्य के लिए मंगल का विधान करने वाला माना है । यहाँ उनकी तुलना आचार्य शुक्ल से करना अप्रासंगिक नहीं होगा । आचार्य शुक्ल ने भी कला के लोक - मंगलकारी पक्ष को स्वीकार किया है किन्तु उसमें सामंतीय नैतिकता का पलड़ा ज़्यादा भारी है । इससे एक कदम आगे बढ़कर द्विवेदी जी ने साहित्यिक कल्याण विधान को विशुद्ध मानवीय आधार दिया है । कल्याण के लिए किसी अलौकिक, दिव्य - पुरुष अथवा महामानव की अवतारणा की अपेक्षा वह नहीं रखते । वह सामान्य मनुष्य में ही काव्य के माध्यम से देवत्व को प्रतिष्ठित करने की बात करते हैं ।

इसलिए उनके लिए कविता अथवा साहित्य की साधना सौन्दर्य की साधना तो है, लेकिन उनका 'सुन्दर' की अवधारणा अन्य साहित्यिक चिन्तकों की तद्विषयक अवधारणा से गुणात्मक रूप से भिन्न है । उनके विचार से सुन्दर कही जाने वाली कोई भी कलाकृति सुन्दर छन्द विधान, रुचिर पदावली और भव्य अलंकारों के कारण सुन्दर नहीं होती है, बल्कि उसकी सुन्दरता का राज़ यह है कि वह मनुष्य को बाहर तथा भीतर से सुन्दर

बनाती है । इसका मूलाधार सामंजस्य - विधायक है । उनके लिए सौन्दर्य स्वयं भीतर और बाहर के सामंजस्य का प्रतिफल है । उसकी प्रभावात्मक परिणति सामंजस्य और संतुलन में होती है ।

द्विवेदी जी की मानवतावादी दृष्टि का एक और आयाम है - उनके साहित्य - चिन्तन का लोकवादी पक्ष । साहित्य में मानवतावाद के प्रवक्ताओं की अपेक्षा उनका यह पक्ष न केवल भिन्न है बल्कि वह आज की प्रगतिशील दृष्टि और वैज्ञानिक चिन्तन के बहुत करीब है । यह उनको नई इतिहास दृष्टि से प्राप्त हुआ है । अपने इस दृष्टि के चलते साहित्य - इतिहास लेखन में उन्होंने आचार्य शुक्ल की अपेक्षा बड़ा दृश्यफलक उठाया है जिसमें कुछ विशिष्ट कवियों, साहित्यकारों की रचनाओं तथा कवियों के संक्षिप्त परिचय और उनकी रचनाओं के गुण - दोष विवेचनके माध्यम से इतिहास लेखन का परित्याग किया गया है । उन्होंने शिक्षित सुसंकृत वर्ग के लेखक के साथ तत्कालीन समाज में अनपढ़ कहे जाने वाले नाथों और सिद्धों की रचनाओं को भी इसमें शामिल किया है । उनका कहना है कि साहित्य के कुछ तत्वों को ही समाज का एक वर्ग गतिशील और सक्रिय रखता है, सम्पूर्ण साहित्य को नहीं । लेकिन साहित्य का स्थाई - तत्व सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को अभिव्यक्त करता है । उनकी इस स्थापना ने साहित्य के इतिहास लेखन में एक नए प्रकार के दृष्टिकोण का सूत्रपात किया । साहित्य की अभिजात वर्गीय व्याख्या के स्थान पर उसमें लोक तत्व को प्रमुखता मिली । साहित्येतिहास लेखन में यह नई शुरुआत मानी गई है । इसमें भी द्विवेदी जी का आदर्शवादी मानवतावाद लोकोन्मुखी होता दिखाई पड़ता है ।

सन् 1960 के बाद जिस सामूहिक मुक्ति की बात वह सोचने लगे थे, उसके तत्व हिन्दी साहित्य की भूमिका और हिन्दी साहित्य में पहले से विद्यमान थे।

चतुर्थ अध्याय

क) 'अनामदास का पोथा' का कथानक।

ख) 'अनामदास का पोथा' उपन्यास का तात्विक विवेचन।

चतुर्थ अध्याय

क) 'अनामदास का पोथा' का कथानक :-

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित 'अनामदास का पोथा' उपनिषद् की पृष्ठभूमि पर आधारित है । जब कुछ तपस्वी केवल तपश्चर्या में समय बिताते थे और कुछ अध्ययन - अध्यापन में संलग्न रहते थे उन्हीं दिनों रिक्व नामक एक मेधावी ऋषि हुए जो अध्ययन अध्यापन के साथ - साथ यज्ञ - याग के अनुष्ठान भी करते थे । रिक्व ऋषि जब कभी भी अपने विद्यार्थियों को दार्शनिक बातें समझाते थे तो उनका पुत्र यह सुनकर हैरान रह जाता और भिन्न - भिन्न मौलिक कल्पनाएँ करता । परन्तु बालक का कुछ ऐसा दुर्भाग्य था कि उसके पिता स्वर्ग सिधार गए जब कि माता बालक के जन्म के साथ ही प्रस्थान कर गई थी । न कोई भाई ही था न कोई बहिन ही । बेचारा बालक अनाथ हो गया । परन्तु उसमें

सोचने समझने की प्रवृत्ति बराबर बनी रही । कभी - कभी वह अन्य ऋषि मुनियों के आश्रमों मे जाता, लोगों की बातें सुना करता तथा उन पर स्वयं मनन करने का यत्न करता । जंगल में जो कुछ खाने के लिए मिलता उसे अपना पेट भरता था ।

लड़का अधिकांश समय चिन्तन - मनन में व्यतीत करता । इस तरह वह सांसारिक बातों से बिल्कुल अनभिज्ञ रहा । हाँ, केवल एक बात उसके ना अन्तर्मन में थी कि वह मूल तत्व क्या है जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है और जिसमें सब कुछ विलीन हो जाता है । वह इस बात पर इतनी गहराई से सोचने लगा कि लौक सम्पर्क से वह वंचित रहा ।

समय बीतते - बीतते लड़का किशोरावस्था में प्रवेश कर गया । जो कोई भी परिचित ऋषि या जिज्ञासु उसे मिलता वह उसे रिक्व का बेटा कहकर पुकारता । किशोरावस्था में प्रवेश करने पर वह केवल इतना जानता था कि उसका नाम रैक्व है अर्थात् किसी रिक्व ऋषि का बेटा । ऐसा विश्वास किया जाने लगा कि निष्क्रिय निष्काम, तरुण तपस्वी समस्त सिद्धियों को प्राप्त कर रहा है । लोगों के आते आते रहने पर भी वह उनकी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं देता था बल्कि अपनी समाधि में सदैव लीन रहता था । ज्यों - ज्यों उसका यश बढ़ने लगा त्यों - त्यों उसके खाने - पीने की सामग्री का प्रबन्ध सुचारु रूप से होने लगा । इस तरह अब वह जंगल जाने के कष्ट से भी बच गया ।

एक दिन उसको अनुभव हुआ कि समस्त चैतन्य जगत को जो चीज़

सचमुच प्रभावत बनाए हुए हैं वह वायु है । कुछ समय पूर्व उन्होंने किसी ऋषि से सुना था कि समस्त पदार्थों का परम तत्व प्राण ही है । तरुण तपस्वी ने इस विषय पर गहन मनन किया । वे नदी के किनारे स्नान करने के लिए चल दिए । तभी उन्होंने देखा कि आसमान के पश्चिमी किनारे पर काले मेघ - खंड छाए हुए हैं । सरल तपस्वी को यह समझ नहीं आ रहा था कि आंधी आने वाली है । जिस वायु की महिमा को उन्होंने अपनी समाधि में अनुभव किया था, वही प्रचण्ड वेग धारण करके सिर पर आने वाली है । अचानक बड़े जोर की आंधी आई । नदी उस प्रचण्ड वेग से उफन उठी । विचार मग्न ऋषि कुछ तरंगों के एक ही आघात के उलट गए । आंधी के साथ - साथ वर्षा भी प्रारम्भ हुई यद्यपि तरुण तपस्वी बुरी तरह आंधी - पानी में फंस गए थे फिर भी उनका मन प्रसन्न था क्योंकि वे वायु की प्रचण्ड शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे थे । अन्त में ऋषि कुमार किसी तरह से शिला खंड पर बैठ गए और अचानक मूर्छित हो गए ।

खुले और चमकते आकाश को देखकर रैक्व मुनि को वह समय याद आया जब भिन्न - भिन्न ऋषि कुमार उसके पिता के पास आकर चर्चा करते थे और उसके पल्ले एक भी बात नहीं पड़ती थी ।

रिक्व मुनि सामवेद के प्रख्यात विद्वान थे । तरुण तपस्वी को याद आया कि तीन तरुण ऋषि कुमार उसके आश्रम में सामगान की चर्चा में लगे हुए थे । ब्राह्मण ऋषियों में प्रथम थे शालवान के पुत्र बालभ्य ।

शिलक और दूसरे थे चिकितायन के पुत्र दालभ्य । क्षत्रिय ऋषि जीवल के पुत्र थे प्रवाहण । शिलक के प्रश्नों का उत्तर देते हुए दालभ्य ने बताया कि साम का आश्रय स्वर है, स्वर का आश्रय प्राण है, प्राण का आश्रय जल है और जल का आश्रय स्वर्ग लोक है । इसके आगे प्रश्न नहीं करना चाहिए क्योंकि साम को स्वर्ग लोक कहकर ही स्तुति की गई है ।

किन्तु शालवान के पुत्र शिलक, चिकितायन के पुत्र दालभ्य के इस कथन से सहमत नहीं हो सके । उन्होंने शिलक के प्रश्नों के उत्तर में कहा - स्वर्गलोक का आश्रय मनुष्य लोक है - वह मिट्टी की धरित्री है । साम को पृथ्वी कहकर ही स्तुति की गई है । सो साम का चरम आश्रय यह मनुष्य लोक है ।

प्रवाहण इस कथन से सहमत नहीं हुए और बोले मनुष्य लोक ही अन्तिम सत्य नहीं है । वस्तुतः इसका भी आश्रय आकाश है । तीनों में विचारों का आदान - प्रदान हुआ और अन्त में इस निर्णय पर पहुँचे कि आकाश ही परम आश्रय है ।

इन बातों ने रैक्व को यह सोचने पर बाध्य किया कि क्या आकाश ही सब कुछ है । उसके मन में तीन तत्व मुख्य रूप से चक्कर काट रहे थे - वायु, जल और आकाश । इन्हीं विचारों में लीन रैक्व अन्धेरे में रास्ता ढूँढते हुए वापिस लौट रहे थे कि वहाँ पर तूफान में फँसी हुई एक गाड़ी देखी । वह वहाँ सहायता के लिए पहुँचे तो देखा कि गाड़ीवान मरा पड़ा है । रैक्व के मन में करुणा उत्पन्न हुई । गाड़ी से दस -

पन्द्रह हाथ पर एक और जीव उसी तरह शिथिल मूर्छित पड़ा हुआ था। रैवत ने उसे पहले मरा हुआ समझा। उसके नाक के पास हाथ रखकर देखा तो साँस चल रही थी।

ऋषिकुमार ने सोचा कि यदि इसकी सहायता की जाए तो शायद जी जाए। लेकिन कठिनाई यह थी कि यह प्राणी इतने कपड़ों और मणि मोतियों से जड़ा हुआ था कि उनकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। इस प्रकार की मानव - मूर्ति उन्होंने पहले कभी भी कहीं नहीं देखी थी क्योंकि चिन्तन में लीन मुनि समाज से बिल्कुल विलग हो गए थे। उन्होंने अपने सिद्धान्त की परीक्षा की। उन्होंने उसके शरीर पर उलझे हुए कपड़ों का एक सिरा उठाया और करने लगे। थोड़ी देर में प्राणी में कुछ हलचल हुई जिस कपड़े से हवा कर रहे थे वह भी सूख गया। ज्यों ही उसका सिर उठा कर कपड़ा उठाना चाहा एकाएक उनका ध्यान उस की आँखों की ओर गया। ऋषि कुमार विस्मित होकर देखने लगे। ऐसी आँखें तो मनुष्य की नहीं होती, अवश्य ही इस प्राणी ने कहीं से मृग की आँखें लेकर चेहरे पर बैठा ली हैं। वे धीरे - धीरे आँखों के चारों ओर उँगली फिरा कर देखने लगे कि कहीं जोड़ के चिह्न हैं या नहीं। ऋषिकुमार एकदम उसके चेहरे पर झुक गया। उसी क्षण उस प्राणी की आँखें खुल गईं। वह एकदम उठ बैठा। क्रोध भरे स्वर में उसने कहा, 'कौन हो तुम ? क्या कर रहा है ?' रैवत ने ज्यों ही इतनी मधुर वाणी सुनी तो निश्चय कर लिया कि वह देवलोक का मनुष्य है। हाथ जोड़ते रैवत बोले, 'मैं बहुत प्रसन्न हूँ, देवलोक के मनुष्य। तुम्हारी संज्ञा लौट आयी, तुम उठकर बैठ गए। देवलोक के प्राणी को रैवत की यह वाणी सुनकर कुतूहल हुआ। बोला,

'तुम कौन हो ?' रैक्व ने कहा कि उसे रिक्व ऋषि का पुत्र रैक्व कहते हैं ।

रैक्व के सरल, निष्कपट स्तुति से देवता को प्रसन्नता हुई । उसने उठकार अपने वस्त्र ठीक और चुपचाप ऊँची ज़मीन देख आसमान ग्रहण किया । रैक्व ने ऐसा दिव्य रूप पहले कभी नहीं देखा था । रैक्व ने कातर विनीत वाणी में कहा, 'हे देवलोक के मनुष्य ! तुम्हें देखकर मेरा सारा अ अस्तित्व तुम्हारी सेवा में दरक जाना चाहता है । इस बात पर स्वर्गीय प्राणी ने रैक्व ऋषि की ओर कहा कि वे क्या प्रथम बार किसी स्त्री को देख रहे हैं । ऋषिकुमार कुछ नहीं समझ पा रहे थे और आँख फाड़कर उसकी ओर देखते रहे । तब स्वर्गीय प्राणी ने कहा कि वह महाराज जानश्रुति की कन्या है । ऋषिकुमार केवल कन्या शब्द से परिचय थे किन्तु उसको ह मालूम न था कि वह क्या होता है । कन्या शब्द स्त्रीलिंग है, इसलिए जाबाला को कन्या शब्द से सम्बोधित करने का आश्वासन देता है । ऋषिकुमार जानते थे कि आर्ये, भवति, शुभे इत्यादि शब्द भी स्त्रीलिंग के लिए ही सम्बोधन है, परन्तु उन्हें यह ठीक तरह से मालूम न था कि इन पदों के अर्थ - पदार्थ क्या हैं ।

जाबाला से ऋषिकुमार से कहा कि वह उसे शुभे कहकर पुकारे । साथ ही यह बात भी बता दी कि वह देवलोक की नहीं अपितु पृथ्वी लोक पर महाराज जानश्रुति का कन्या है । उसने ऋषिकुमार के प्रति कृतज्ञता प्रकट की जिसने उसके प्राण बचाए । जाबाला ने ऋषिकुमार से कहा कि वह उसे उसके पिता के घर पहुँचा दे । ऋषिकुमार ने विनीत भाव से कहा कि वह उसके किसी भी आदेश का पूरा - पूरा पालन करने के लिए तैयार है ।

वह उसे अपने पीठ पर बिठाकर लेने के लिए तैयार हो जाता है, लेकिन जाबाला यह प्रस्ताव ठुकरा देती है और उसे अनुचित और निन्दनीय बात घोषित करती है । तब ऋषिकुमार ने बताया कि आर्त और विपिन्न लोगों की सेवा करना धर्म है और जैसा कि उसने वृद्ध लोगों से भी सुन रखा था ।

राजकुमारी जाबाला ऋषिकुमार के सरल स्वभाव पर मुग्ध हो गई और बोला कि वह उसे अनुचित बात कर रहा है । ऋषिकुमार को इसमें कुछ भी अनुचित नहीं लग रहा थ जब उसने राजकुमारी को पीठ पर आने के लिए कहा । ऋषिकुमार को पूर्ण आशा थी कि राजकुमारी उसकी पीठ पर अवश्य आएगी, पर व दो कदम पीछे हट गई और बोली कि ऋषिकुमार सचमुच कितना भोला है । त्यों ही ऋषिकुमार को पीठ में एक अीज सी सनसनाहट महसुस होने लगी जो शान्त नहीं हुई । राजकुमारी हंस रही थी इस तरह निराश ऋषिकुमार उस मोहक हंसी से अभिभूत हो गए और जाबाला से पूछा कि क्या उसने कोई हास्यास्पद आचरण किया । राजकुमारी बोली, 'नहीं ऋषिकुमार तुम तो स्वर्गीय ज्योति हो । मेरी हंसी तो अधम जन के कलुषित चित्त का विनोद है । हाय तुम्हारे जैसा पवित्र मन कहाँ मिलता है ।'

आगे फिर ऋषिकुमार से पूछती है कि वह उसे देखकर कैसा अनुभव करता है । ऋषिकुमार उत्तर देते हैं, 'सब कुछ वायु से ही उत्पन्न होता है, वायु में विलीन हो जाता है । मेरे भीतर तुम्हारे भीतर और समस्त विश्व - ब्रह्माण्ड में वायु ही सब कुछ करा रहा है । मेरे

भीतर जो प्राण वायु है वह तुम्हें देखकर बहुत चंचल हो गया है। तुम्हें दिखाई नहीं देता, पर मेरे अन्दर भयंकर आंधी बह रही है। वह मेरे अपानवर्ती प्राणवायु को तुम्हारे भीतर ठेलकर घुसा देना चाहती है। वायु की इस अद्भुत शक्ति का परिचय मुझे पहले नहीं था।'

जाबाला ने ऋषिकुमार को रोका और कहा जिसे वह वायु कहता है, वह वस्तुतः एक प्रत्यय है, प्रतीति है। पद और पदार्थ को यह प्रत्यय ही जोड़ता है। परन्तु ऋषिकुमार ने इस प्रत्यय सम्बन्धी बात पर विचार नहीं किया था। राजकुमारी जाबाला ने ऋषिकुमार को बताया कि जिसे वह वायु कहते हैं वह वही चीज़ तो नहीं जिसे जनक 'आत्मा' कहते हैं। और ऋषिकुमार इस विषय पर सोचने के लिए बाध्य हो गये।

इतने में ही राजकुमारी के अनुचार वहाँ की ओर आते दिखाई पड़े और उसने ऋषिकुमार को छिपने के लिए कह दिया। राजकुमारी को लेकर सब लोग चले गए। ऋषिकुमार तीन दिन तीन रात उस रथ के पास बैठे रहे। उन्होंने रथ को खींच कर उस स्थान पर लाया जहाँ राजकुमारी बैठी थी और उसी की छाया में बैठकर चिन्तन करने लगे। पीठ की सनसनाहट बनी रही और वे प्रायः उसे खुजलाते थे।

जाबाला राजा जानश्रुति की इकलौती दुलारी कन्या थी। बड़े लाड़ - प्यार से उसका लालन पालन हुआ था। राजा जानश्रुति आस - पास के गाँवों में सबसे सम्पन्न व्यक्ति थे। उनकी गुणवती कन्या को प्राप्त करने के लिए अनेक राजकुमार प्रयत्नशील थे परन्तु वह ऐसे किसी से विवाह नहीं करना चाहती थी जो ज्ञान और विद्या में उसके समकक्ष न हो। राजा

जानश्रुति लाड़ प्यार में पली अपनी बेटी के योग्य वर नहीं खोज पा रहे थे । इस प्रकार माँ - बाप की लाड़ली जाबाला को विवाह कार्य रुका हुआ था ।

एक दिन जाबाला को पुरानी बात याद आई जब उसने ऋषिकुमार को कहीं दूर छिपने के लिए कहा था और स्वयं घर लौट आई । घर लौटने पर भी उसका मन मचलने लगा । सोचने लगी हाय, बिचारा बड़ा ही भोला है । हृदय में न जाने कैसी उथल - पुथल महसूस करता है पर मानता है कि यह भी वाय से ही उत्पन्न हुआ है । जाबाला जहाँ स्वयं कुछ हलचल महसूस कर रही थी वहाँ वह ऋषिकुमार के भोलेपन पर बिल्कुल हैरान थी । एक बार जाबाला के जी में आया था कि उसकी पीठ पर सवार हो हो जाए । पर रुक गई थी ।

वृद्ध आचार्य उदम्बरायण जाबाला के गुरु थे और उसके पिता के भी । जाबाला को उन्होंने गोद में खिलाया था । लड़की के प्रति उनका स्नेह और ममत्व अधिक था । जाबाला की माँ जब नहीं रही तो उसकी माता के समान ही उसे स्नेह और दुलार दिया । उनके स्नेह के कारण वह ढीठ हो चुकी थी । पढ़ते समय वह उनसे खुलकर बहस करती थी । आचार्य उसके गुरु और माता दोनों का काम करते थे । राजा जानश्रुति ने जाबाला के लिए उपयुक्त वर ढूँढने का भार भी उन्हें ही सौंपा था । आचार्य जैसा वर चाहते थे, वैसा मिल नहीं रहा था ।

जाबाला अपने मन की व्यथा नहीं कह पा रही थी । भीतर ही भीतर वह अपने ताप से जलने लगी । राजा ने पुत्री की अवस्था देखी तो

व्याकुल हो गए । वैद्य बुलाए गए पर रोग का पता न चल सका । आचार्य की तो दशा और चिन्तनीय थी । आश्वलायन ने बताया था कि रैक्व ने सैकड़ों को अपने अन्तर्निहित वायु की संक्रामित करके नीरोग बना दिया है । उन्होंने राजा से प्रस्ताव किया कि रैक्व को खोजने के लिए और अधिक प्रयत्न किया जाए और वही जाबाला को रोग - मुक्त कर सकते हैं ।

पता लगाने का अभियान और तेज़ कर दिया गया । चारों ने आकर सूचना दी 'कि कोई तापसकुमार उस टूटे रथ की छाया में समाधि में लीन है जिसमें बिटिया गौओं के घर जाती रही थी । किसी को और तकलीफ भी नहीं है । नीठ अवश्य , बुजलाता रहता है । बोलता बहुत कम है ।' राजा ने आचार्य से कहा कि वे स्वयं जाकर पता लगाएं कि यही व्यक्ति रैक्व है या नहीं । जाबाला को जब यह समाचार मिला तो उससे नहीं रहा गया । आचार्य को बुलाकर उसने ज़ोर देकर कहा कि 'तात निःसन्देह यही व्यक्ति रैक्व है ।' आचार्य औदुम्बरायण रैक्व का पता लगाकर सीधे राजा के पास पहुंचे । राजा उस समय जाबाला के पास बैठे थे । रैक्व के अज्ञात रोग से वे बहुत व्याकुल थे । रैक्व के मिल जाने के समाचार से वह बहुत आश्वस्त हो गई थी । पिता को बता रही थी कि वह व्यर्थ ही दुःखी हैं, वह बिल्कुल स्वस्थ है । आचार्य एकदम वहीं पहुंचे। उन्हें देखकर राजा और जाबाला दोनों ही आश्वस्त हुए । राजा ने आतुर भाव से पूछा 'कि क्या रैक्व से मिले सके हैं ?' आचार्य प्रसन्न थे और हंसते हुए कहा - 'है तो वे ऋषि के पुत्र महाभाग रैक्व ही । गया था तो समाधि लगाए हुए थे । समाधि भंग हुई तो थोड़ी देर तक

ओर - ओर से रहे । फिर मुझे देखकर खिसियाए से बोले - 'आप कौन हैं ? यहाँ क्या करने आए हैं ?' मैंने विनीत भाव से कहा -'उदुम्बर गोत्रीय औदुम्बरायण हूँ तापस कुमार । महाराज जानश्रुति ने मुझे भेजा है । मैं जानना चाहता हूँ तब आप, क्या महान ऋषि रिक्व के सुपुत्र हैं ?' उन्होंने उत्तर में कहा 'हूँ तो रिक्व ऋषि का पुत्र रैक्व ही । पर वह जानश्रुति कौन है ? क्या ये महाभागा शुभा के पिता है ?' मुझे आश्चर्य हुआ । मैंने विनीत भाव से कहा - 'नहीं, उनकी कन्या का नाम कुछ और है, शुभा नहीं ।' 'तो कोई और होंगे । उन्हें मुझसे क्या काम है ?' जाबाला की छाती को बिजली चीर गई । उसकी वाणी रुद्ध थी पर उसका रोम - रोम चिल्लाकर कह रहा था - 'नहीं नहीं शुभा जाबाला ही है । महाराज जानश्रुति ही शुभा के पिता हैं ।' किसी को यह चीत्कार सुनाई नहीं दी । महाराज तो कुछ आश्वस्त से लगे कि जिसकी लड़की को यह तापस जानता है वह जानश्रुति कोई और है ।

आचार्य उदुम्बरायण ने बताया कि उन्होंने तापसकुमार से कहा कि राजा जानश्रुति उनसे तत्व - ज्ञान की चर्चा करना चाहते हैं । तापसकुमार ने अवज्ञा की हँसी के साथ कहा - 'ज्ञान की चर्चा करना चाहते हैं । आप उनके कौन होते हैं ?' आचार्य ने उत्तर दिया कि मैं उनका अध्यापक हूँ ।' तो ज्ञान की चर्चा आपसे क्यों नहीं कर लेते ? वहाँ मुझे विव्रत कराने क्यों लाना चाहते हैं ।'मैं उनकी सब की जिज्ञासा शान्त नहीं कर सकता । वे बहुत जिज्ञासु हैं, मैं अल्पज्ञ हूँ । इसी बीच तापसकुमार ने आचार्य से स्त्रीलिंग - पुलिंग भेद के बारे में जानने की इच्छा भी प्रकट की । आचार्य ने सिर हिला

कर बता दिया कि उन्हें सब कुछ मालूम है । ऋषिकुमार ने आचार्य से कहा कि यदि उनके राजा ज्ञान - चर्चा के लिए इतने आतुर हैं तो शुभा जैसी किसी स्त्री से मिलकर ज्ञान - चर्चा करें जिसने उसको स्वयं पद और पदार्थ का भेद बतलाया था ।

एक दिन नदी पर स्नान करने के लिए ऋषिकुमार चल दिए, पर स्नान नहीं किया क्योंकि वहाँ एक वृद्धा स्नानादि से निवृत होकर सूर्य को अर्घ्य दे रही थी । वे एकटक उनकी ओर देखने लगी । शुभा के मुख के समान यह मुख भी चिकना था । वृद्धा महिला ने ऋषिकुमार से पूछा कि वह क्यों इस प्रकार उन्हीं की ओर ताक रहा है और वह कौन है ? ऋषिकुमार रुक - रुक कर बोले कि वह रिक्व ऋषि का पुत्र रैक्व है तथा साथ ही साथ पूछने लगे कि वह उसे क्या कह कर पुकारे । वृद्धा को कुछ कुतूहल तो अवश्य हुआ और उसने कहा कि उस जैसी वृद्धा को उस जैसे लड़के माँ कहकर पुकारते हैं । तब ऋषिकुमार समझ गया कि वह भी शुभा की भाँति स्त्री - पदार्थ है । वृद्धा के मन में इस व्यस्क शिशु के प्रति वात्सल्य भाव उमड़ आया । वह उसे अपने साथ घर ले चली और खाना खिलाने आदि ले गई । तापसकुमार ने इस वृद्धा से अनुरोध किया कि वह मन और आत्मा, स्वप्न और निद्रा का रहस्य जानने के लिए आतुर है । वृद्धा स्त्री ने उसे एक बड़े तत्वज्ञानी से मिला देने का आश्वासन दिया । तापसकुमार ने पूछा 'कि क्या वे भी स्त्री - पदार्थ हैं माँ ?' उस वृद्धा ने तापस को बताया कि वे उसके पिता के समान हैं । वृद्धा माता ने तापस ऋषि को अपने पास रख लिया और हर प्रकार से उसका ध्यान रखने लगी । जब बार - बार तापस पीठ को खुजलाते रहते तो

वृद्धा माता ने समझा कि उसकी पीठ पर मैल जम गई होगी तभी तापस पीठ पर बार बार खुजला रहा है । तब तापस कुमार बोले कि यह उनके पापों का फल है जिसका दण्ड वह भोग रहा है । वृद्धा माता ने तापस कुमार से कहा कि उसका मन तो शुद्ध निर्मल है, उसमें पाप कहाँ से आ सकता है । जब तापसकुमार ने वृद्धा माता से सुना कि पाप मन में होता है तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ क्योंकि उन्होंने कभी मन की बात नहीं सोची थी । उसने वृद्धा माँ से पूछा 'कि क्या मन प्राण वायु से अधिक शक्तिशाली होता है ?' तब वृद्धा माँ ने उत्तर दिया कि इस शरीर में अन्न का बना अंश भी है, प्राण भी है, मन भी है, विज्ञान भी है, आत्मा भी है । इनमें सत्य सभी हैं पर उत्तरोत्तर बलवान हैं । तापसकुमार और अच्छी तरह बात को समझना चाहते थे तो वृद्धा माता ने बताया कि वह शेष सभी बातों को पिता जी से पूछ सकता है । वृद्धा माता ने तापस कुमार से पूछा कि किसने उसे बताया कि उसने पाप किया है । तापस बोले कि ऐसी बात शुभा ने बतायी है । जब ऋषिकुमार ने सारी कथा कह सुनायी तो सारी कथा सुन लेने के बाद वृद्धा माता बोली कि शुभा ने सभी कुछ ठीक कहा है । पर उसकी पीठ की सनसनाहट उसके मन के कोने में छिपी हुई दुर्दम अभिलाष भावना की देन है । इसे तो शुभा ही ठीक कर सकती है । उसने तापसकुमार को बताया कि उसके पीठ की यह सनसनाहट मन में कहीं बहुत गहराई में शुभा को पाने की लालसा से उत्पन्न हुई है ।

वृद्धा माता ने तापस कुमार को आश्वासन दिया कि यह पीठ की

सनसनाहट पूरी तरह ठीक हो जाएगी और इस उपलक्ष्य में शुभा को खोजना पड़ेगा । और इस तरह तापस कुमार को अपने साथ लेकर उसके पिता औधरि ऋषि के पास ले चली ।

औधरि ऋषि ने सृष्टि के रहस्य को समझा है । इस तरह वृद्धा माता बेटे तापस कुमार का परिचय उसके पिता औधरि ऋषि से करवाती है और तपपस कुमार से कहती है कि उसके पिता औधरि ऋषि ही केवल उसकी शंकाओं का समाधान कर सकते हैं ।

तब रैवत ऋषि कहते हैं कि उन्हें बहुत सोच - विचार करने के बाद इस सत्य का पता चला है कि वायु ही सबसे प्रबल तत्व है । लेकिन वे आत्मा और मन के विषय में बहुत कुछ जानना चाहते हैं ।

औधरि ऋषि ने तापस कुमार को बताया कि यह ठीक है कि उसने बहुत तपस्या की है परन्तु उसने सत्संग नहीं किया है जो कि तपस्या का एक बहुत आवश्यक अंग था । जो जिस बात को जानता है उससे पूछते रहने से ही से ही अपने एकान्त चिन्तन की त्रुटियाँ दूर होती रहती हैं ।

पूर्ण मनुष्य बनने के लिए चार पुरुषार्थ हैं :- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । इनमें से प्रथम तीन साधन हैं और अन्तिम साध्य है । लेकिन औधरि ऋषि की यह बात तापस कुमार रैवत की समझ में नहीं आई । फिर उन्होंने रैवत को गृहस्थ - आश्रम से सम्बन्धित बात बताई लेकिन रैवत समझ नहीं पाए । तब औधरि ऋषि ने रैवत को जाने की

आज्ञा दी और कहा कि वह यह सब बातें माता जी से पूछ कर मनन करने के बाद ही उनके पास आए ।

परन्तु रैक्व सारी बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहते थे । माताजी के पास पहुँचने से पूर्व वहाँ एकान्त में बैठकर वे सारी बातों पर स्वयं विचार करना अधिक आवश्यक समझते थे । इसी बीच वे नदी - तट की ओर बढ़ गए । अपने में ही खोए हुए आगे बढ़ते हुए उन्हें रास्ते में रुकना पड़ा । उन की दृष्टि एक स्त्री पर पड़ी जिसकी गोद में एक छोटा सा बच्चा था । उसके शरीर को ढकने वाला गन्दा वस्त्र तार - तार हो गया था । बाल बुरी तरह उलझे हुए थे, जान पड़ता था कि वह कई दिनों से भूखी थी । गोद में पड़ा बच्चा भी कंकाल - मात्र रह गया था । रैक्व यह देखकर ठिठक गए । रैक्व ने उस स्त्री को कष्ट में देखकर रुकने के लिए कहा और पूछा कि वह कौन है । उस स्त्री ने बड़ी ही करुण दृष्टि से उनकी ओर देखा और बोली कि वह एक दुखिया स्त्री है । वह कई दिनों से भूखी है और उस का बच्चा भी भूखा है । नौबत यहाँ तक पहुँच गई कि नदी में से दो बूँद पानी भी बच्चे को न पिला सकी । रैक्व यह सुनकर दुःखी हुए और एकदम नदी से पानी लाने के लिए दौड़ पड़े । नदी से पत्तों के दोनों में पानी लाकर उन्होंने बच्चे के मुँह में डाला । बच्चा कुछ होश में आ गया । उसकी माँ ने बड़े आयास से उसे खींचकर छाती से लगा लिया ।

रैक्व ने इस दुखिया स्त्री की सहायता करनी चाही और इस प्रकार उसे आग्रह किया कि वह उसकी माताजी के पास चले तभी उसके दुःख का

निवारण हो सकता है । दुखिया स्त्री ने विश्वास से कहा कि एक किसान की स्त्री होने के नाते मज़दूरी करने के लिए हर तरह से तैयार है ।

जब माताजी ने इस दुखिया स्त्री की दशा देखी तो उसे उसके कष्ट के बारे में पूछा । स्त्री बहुत थक गयी थी और बोलने में उसे कष्ट हो रहा था । इशारे से उसने बताया कि वह भूख और प्यास से याकुल है । माताजी ने बड़ी तत्परता से घर से कुछ अन्न और जल लाकर उस स्त्री को दिया और दोनों में कुछ शहद लेकर बच्चे को चटाने के लिए कहा । रेवव चुपचाप देखते रहे । अन्न और जल पाकर वह स्त्री कुछ स्वस्थ हुई ।

माताजी ने इस स्त्री को बेटी कहकर पुकारा और उसका हाल - चाल पूछना आरम्भ किया । उस स्त्री ने दीर्घ निश्वास लिया और बोली कि वह एक भाग्यहीन औरत है सिका विवाह एक गरीब किसान से हुआ था । बहुत साल बीत जाने पर कई मनौतियों के पश्चात यह बच्चा पैदा हुआ तो इसका बाप ही मर गया और वह अनाथ हो गई ।

रेवव को एकाएक याद आया कि कृषि ओपस्ति ने कहा था कि विवाह से स्त्री और पुरुष पूर्ण मनुष्य बनते हैं । तो यह स्त्री पूर्ण मनुष्य बन चुकी है । पूर्ण बनने पर इस स्त्री की ऐसी दुर्दशा क्यों है यह बात रेव व को समझ नहीं आ रही थी ।

माताजी ने इस स्त्री के प्रति सहानुभूति प्रकट की । इस दुखिया स्त्री ने धीरे - धीरे सारी कहानी सुनानी प्रारम्भ की और यूँ बताया कि

कि दुःखी जनों को पूछने वाला कोई नहीं होता है । इस बच्चे का बाप राजा जानश्रुति के घर में काम करता था । उनका हल जोतता था, उनकी गाड़ी चलाता था । एक दिन राजकुमारी कहीं जा रही थी । वही उनकी गाड़ी चला रहा था । उस दिन बड़े ज़ोर की आंधी आई, पानी भी खूब बरसा । गाड़ी के जुते बैल वहीं गिर । उसी तूफान में वह भी मर गया । राजा के अनुचरों ने उसको उसके पति के मरने की कोई खबर न दी । गांव के लोगों ने सूचना दी कि राजकुमारी बच गई है और इस बच्चे का बाप मर गया है । पता नहीं उन लोगों ने उसका शव कहाँ फेंक दिया था । समाचार पाकर जब उधर गई तो उसके शव का कहीं पता न चला । गाड़ी वहाँ पड़ी थी पर सुना कि उसके नीचे कोई साधु बैठता था जो अब उसे छोड़कर कहीं चला गया है । राजकुमारी के जीवित लौट आने पर राज्य में बहुत खुशियाँ मनायी गईं पर इस दुखिया की याद भी किसी को भी नहीं आई । बच्चे का भी दुःख नहीं देखा गया । दुखिया स्त्री, माता जी के पैरों के आगे पड़ी कि वह उसे कुछ काम दे । रैक्व का मन क्षोभ से भर गया क्योंकि यह तो उनकी ही कहानी सुना रही थी । माताजी ने एक बार रैक्व की ओर देखा । शायद उनके चेहरे पर पड़ी प्रतिक्रिया की रेखाओं को पढ़ लेना चाहती थी ।

माताजी ने उस स्त्री और उसके बच्चे के लिए व्यवस्था की और फिर जड़वत् स्तब्ध खड़े रैक्व के पास आयीं । बोलीं - क्या सोच रहा है बेटा, इतना उदास क्यों है ? रैक्व क्षुब्ध जान पड़े और बताया कि यह वही रथ चालक है जो शोभा को लेकर उस दिन चला था । हाय, बिचारा

मर हो गया । राजा जानश्रुति तो बड़े जिज्ञासु तत्व ज्ञानी हैं उन्हें तो इतना ध्यान रखना चाहिए था । माता जी ने रैक्व को बताया कि वह नहीं जानते है कि संसार में कितना दुख - दर्द है । इसी बीच माता जी ने रैक्व से पूछा कि उसकी पिताजी से क्या बात हुई । रैक्व ने बताया कि पिता जी ने उससे तप के साथ सत्संग को अनिवार्य बताया ।

रैक्व सोच रहे है कि सत्संग के लिए शुभा को खोजूं, पर शुभा भी उन्हें अज्ञानी ही जान पड़ी क्योंकि वह उस दुखिया स्त्री की तनिक बात भी नहीं सोच सकी थी जिसका पति तूफान भरी आंधी में मौत का शिकार हो चुका थ ।

इतना जान लेने पर भी रैक्व शुभा को सत्संग के लिए खोजना चाहते थे । उधर शुभा अर्थात् जाबाला दिन - प्रतिदिन सूखती जा रही थी । आचार्य औदम्बरायण को दुश्चिन्ताओं का अन्त नहीं था । आचार्य जाबाला के लिए काफी चिन्तित थे लेकिन जाबाला बराबर कहती रहती कि वह बिल्कुल ठीक है । जाबाला तरुण तापस कुमार से मिलने की योजना बनाती लेकिन उसे कोई उपाय नहीं सूझ पा रहा था कि वह कैसे उसे मिले । हर बार अपना मन मसोस कर रह जाती । बार - बार अपने को प्रिया रूप में सोचने में उसे एक अपूर्व गुदगुदी अनुभव होती । खाते समय, सोते समय, काम करते समय वह सदैव यही सोचती कि तापस इस समय क्या कर रहा होगा, कहाँ होगा इत्यादि ।

आचार्य औदुम्बरायण जाबाला के बारे में बहुत समय से चिन्तित थे ।

एक दिन उन्हें पता चला कि किसी दूर गाँव में कोई सिद्ध महात्मा आए हैं और यह वही महात्मा थे जिनका नाम रैक्व था और जिसे शुभा अर्थात् जाबाला जानती थी। आचार्य उनकी खोज में निकल पड़े लेकिन उन्हें मिलकर कोई विशेष प्रसन्नता नहीं हुई बल्कि उदास वापिस लौटे। जाबाला ने उनसे उनकी उदासी का कारण पूछा। आचार्य और भी गम्भीर हो गए। जाबाला को यह विचित्र लगा। वह उनकी ओर अभियोग भरी कातर दृष्टि से देखने लगी। आचार्य ने बड़ी देर के बाद मौन भंग किया और बोले कि वे जाबाला के लिए एक महात्मा से आशीर्वाद माँगने गए थे पर भविष्य की चिन्ता से आतंकित होकर वापिस लौटे।

जाबाला का मन सनाका खा गया। वह प्रश्न भरी आँखों से आचार्य की ओर एकटक देखती रह गई। आचार्य ने बताया कि सबसे पहले उन्हें सुना कि वे यज्ञ - याग, ब्राह्मणों, देवताओं तथा एकान्त तप और मनन के विरोधी हैं। जाबाला ने आचार्य से बड़ी उत्सुकता से पूछा कि महात्मा ने उनसे क्या कहा। आचार्य ने बताया कि महात्मा ने उनसे पूछा कि क्या वे राजा जानश्रुति हैं जिनकी कन्या एक दिन वर्षा और आँधी में फँस गई थी। तो आचार्य ने विनीत भाव से कहा कि वह राजा जानश्रुति का पुरोहित है और जिस लड़की के स्वास्थ्य के बारे में उनका आशीर्वाद पाने आया है उसके जनक ना राजा जानश्रुति हैं पर समझ लो कि वह उनकी भी बेटी है।

एक विचित्र बात महात्मा ने और बतायी कि उनकी बेटी को कोई

मानसिक कष्ट है और बोले कि एक आध्यात्मिक अक्षम्य अपराध भी हुआ है । जाबाला के आचार्य से पूछने पर महात्मा ने अपराध के विषय में बताया :- 'वह गाड़ीवान मर गया । उसकी पत्नी और नन्हा बच्चा अनाथ हो गए । भूखी - प्यासी और शोक से आर्त न जाने कहाँ भटक रहा होगी । महात्मा ने बताया कि राजा जानश्रुति के राज्य में अनेकों स्त्री - पुरुष, वृद्ध - बालक भूख से, प्यास से, रोग से व्याकुल है । आचार्य महात्मा की इस बात से सहमत थे । इतना सब कुछ सुनकर जाबाला ने आचार्य को साथ लेकर सारे जनपद में घूमने पर बाध्य कर दिया । जाबाला उस स्त्री और बच्चे को खोजने के लिए बड़ी बेचैनी महसूस करने लगी । भगवान से स्तुति करने लगी, हे भगवान ! यह सीधी - सी बात उसे पहले क्यों नहीं सूझी ।'

रैक्व ने अपनी नयी दीदी से जनपद के बारे में अनेकविधा - जानकारी प्राप्त की थी । कितने ही लोग स्त्री - पुरुष, बालक, वृद्ध भूख से तड़प - तड़प कर मर गए थे । रैक्व को गहरा व्यथा हुई । उनके मन में रह - रह कर शुभा की दिव्य मूर्ति आ जाती । वे समझते थे कि शुभा ही बता सकती है कि इस समय क्या करना चाहिए । वे व्याकुल भाव से माता जी के पास चले गए । रैक्व शुभा से मिलना चाहते थे पर उन्हें समझ नहीं आ रहा था कि वह कहाँ मिलेगी ।

रैक्व ने कई बार माता जी के साथ गाँव - गाँव घूमकर वहाँ की दशा देखी । जनपद में माता जी को आशा की मूर्ति समझते थे और देवी की तरह पूजते थे । स्त्रियाँ अपनी विपत्ति की बातें रो - रोकर सुनाती,

वे धैर्य से सुनतीं और प्यार से बातें करतीं और दुखी बच्चों के सिर पर हाथ फेरकर शीघ्र रोग - मुक्त होने का आशीर्वाद देतीं । रैक्व चुपचाप यह दृश्य देखते । उन्हें अनुभव होता कि सहानुभूति भी एक बड़ा औषध है ।

रैक्व माताजी के धैर्य और शान्त भाव से अभिभूत हो जाते । बिना किसी उपदेश के ही लोक व्यवहार की सैकड़ों बातें वे रैक्व के मन में बैठा देतीं । रैक्व में देखने, समझने और सीखने की प्रवृत्ति बराबर बढ़ती जा रही थी । दुख, अभाव, रोग उनकी बातचीत के विषय बने रहे रैक्व ने देखा कि माताजी सर्वत्र शान्त बनी हुई है । उन्हें याद आया कि ऋषि सोमश्रुति ने उन्हें बताया था कि जो आत्मा को पा लेता है, उसे शोक नहीं होता, उद्वेग नहीं होता, मोह नहीं होता - वह सब कुछ पा लेता है । निस्सन्देह माताजी ने आत्मा को पा लिया है । एक दिन माताजी ने स्नान करके प्रार्थना की और रैक्व से कहा कि वह भी भगवान से प्रार्थना करे कि इन दुर्गत जनों की वे रक्षा करें । रैक्व प्रार्थना तो नहीं पर योग मानते थे । माताजी ने वैसा ही करने को कहा जिससे उसका अन्तरतर शान्त हो जाता । रैक्व ने एकदम समाधि नहीं सधी । वे थोड़ी देर में उद्विग्नजन की भाँति उठ गए । बोले, माँ आज समाधि नहीं लग पा रही है । आँखों के सामने केवल भूखे - नंगे बच्चे और कातर दृष्टि वाली माताएँ ही दिख रही हैं । ऐसा क्यों हो रहा है माँ ?' माताजी ने बताया कि अकेले में आत्माराम या प्रभाराम होना भी एक प्रकार का स्वार्थ है । रैक्व उदास हो गए । माताजी ने धीरे - धीरे गुन गुनाकर गाना आरम्भ किया । रैक्व मुग्ध होकर सुनते रहे । गाना समाप्त होते

ही बोले कि 'वह वेचित है क्योंकि उसमें दृष्टि नहीं है, बुद्धि नहीं है, प्रेम नहीं है ।' माताजी ने स्नेह से रैवत के सिर को बार - बार सहलाया और बताया कि ऐसी कातर वाणी तो उनके अनुग्रह के बिना नहीं निकलती । रैवत को जैसे दिव्य ज्योति दिखा गई । वे शान्त प्रसन्न भाव से बोले - 'पा रहा हूँ माँ, पा रहा हूँ ।' माता जी ने इस सत्य बात की ओर संकेत किया कि जहाँ दुख है, अभाव है, वहाँ प्रभु प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं । वह अन्धकार में प्रकाश बिखेरते हैं, आँधी - तूफान के भीतर शान्त प्रसन्न भाव से विराजमान रहते हैं ।

तापस कुमार अब तक समझ गए थे कि जो तप वह गाड़ी के नीचे बैठकर आ रहे थे वह सब झूठ तप था, सही तपस्या गाड़ी चलाकर की जा सकती है और सोचता है कि सही तपस्या गाड़ी चलाकर ही की जा सकती है । इस हेतु वह गाड़ी ठीक करके चलाने का फैसला करता है । इसी बीच माँ और बेटे में वार्तालाप प्रारम्भ हो जाता है माँ बेटे से कहती है कि मृत्यु सब को निगलने के लिए मुँह फैलाए खड़ी है, और फिर भी लोग जीना चाहते हैं । सब कुछ मारा जा सकता है पर जीने की इच्छा नहीं मरती । बेटा भी इस बात से सहमत हुआ । माँ आगे यूँ कहने लगी कि 'जिसे लोग 'आत्मा' कहते हैं, वह इसी जिजीविषा के भीतर कुछ होना चाहिए । ये जो बच्चे हैं, किसी की टाँग सूख गई है, किसी का पेट फूल गया है, किसी की आँख सूज गई है - ये जो जाएँ तो इनमें बड़े - बड़े उद्यमी और ज्ञानी बनने की सम्भावना है । अगर यह सम्भावना नहीं होती तो शायद जिजीविषा भी नहीं होती ।'

राजा जानश्रुति को आचार्य औदुम्बरायण ने सारी बातें बतायी तो वे अचकाकर जागे कि उन्हें किसी ने भी प्रजा के कष्ट की बात नहीं बताई । तब आचार्य बोले कि इसमें दोष उतना ही उनका है जितना कि स्वयं उनका अपना ।

आचार्य ने आगे बताया कि बेटी जाबाला तो गाँवों में घूम घूम कर अकाल से पीड़ितों को स्वयं देखना चाहती है और यथोचित सेवा करना चाहती है । राजा जानश्रुति ने आचार्य से विनती की कि वे किसी प्रकार भी जाबाला को बचाने के लिए कुछ उपाय ढूँढ लें तभी वे प्रजा की रक्षा कर सकते हैं । आचार्य ने यह प्रस्ताव पेश किया कि साधारण जनता में तो कोहलीय - नृत्य - नाटक का बड़ा आकर्षण होता है और इस आयोजन पर दूर दूर से लोग आते हैं । आयोजन के अन्त में यदि यह घोषणा कर दी जाए कि राजा के भण्डार से सभी दीन - दुखियों को अन्न और औषधि तत्काल दिए जाएंगे तो यह बात गाँव - गाँव में फैल जाएगी और हम अपना अन्न का भण्डार खोल देंगे । बहुतों की कठिनाई दूर हो जाएगी । इस प्रस्ताव से बिटिया को मानसिक शान्ति मिलेगी ।

राजा जानश्रुति ने आचार्य के इस प्रस्ताव को स्वीकृत कर लिया । सचिवों को तुरन्त आयोजन का आदेश दे दिया गया । कोहलीयों के अनुष्ठान की तैयारी आरम्भ हो गई जाबाला आश्वस्त हुई लेकिन उसने अपने पिता और आचार्य को इस बात पर राज़ी कर लिया कि रंग भूमि के निर्माण के समय से ही सहायता कार्य प्रारम्भ कर दिया जाए । काम तेज़ी से आरम्भ हुआ ।

राजा और आचार्य के सचिवों ने मंत्रणा करके आगामी सहायता - कार्य

को रूपरेखा बनाने का प्रयत्न किया । एक दिन इस सम्बन्ध में मंत्रणा चल रही थी । राजा व्यस्त थे । ऐसे ही समय दोवारिक ने आकर निवेदन किया - प्रभो, जैमिनीय - गोत्रोद्भवा और महर्षि औपस्ति की पत्नी ब्रह्म वादिनी भगवती ऋतम्भरा पधारी है, उन्होंने अनुकूल अवसर पर महाराज से मिलने की इच्छा व्यक्त की है ।

आचार्य औदुम्बरायण भगवती ऋतंभरा को लेकर उपस्थित हुए । भगवती ने शान्त मृदु कंठ से कहा, 'कल्याण हो राजन् । आसन ग्रहण करें ।' राजा ने भक्ति और श्रद्धा के साथ फिर अभिवादन किया + भगवती जब तक आसन नहीं ग्रहण करती, तब तक वह कैसे आसन ग्रहण कर सकता है । फिर चन्दन - काष्ठ की एक चौकी पर कुशासन बिछाकर भगवती के बैठने की व्यवस्था की गई ।

उनके आसन ग्रहण कर लेने के बाद राजा, आचार्य और अन्य सभा-सदों ने आसन ग्रहण किया । भगवती ने एक बार सभी ओर दृष्टि फिरायी फिर राजा की ओर उन्मुख होकर कहा - क्षमा करें, राजन । राजकार्य में विघ्न उपस्थित करना अनुचित है । उसने थोड़ी देर के लिए एकान्त में बात करनी चाही । आचार्य औदुम्बरायण राजा की अनुमति लेकर रुक गए । भगवती ऋतंभरा ने राजा से प्रजा का कष्ट दूर करने की आशा प्रकट की । राजा को पूर्ण विश्वास था कि भगवती के आशीर्वाद से ही उनके सारे प्रयत्न दृढ़ और सफल होंगे । भगवती ने आचार्य की बात को जाने से पूर्व सुनना चाहा । आचार्य औदुम्बरायण ने जबाला की अस्वस्थता और उसके लिए

लिए किए गए उपचारों की बात बतायी । राजा जानश्रुति अपनी कन्या जाबाला के लिए उनका आशीर्वाद भी चाहते थे क्योंकि भगवती के आशीर्वाद से उसके स्वस्थ होने की कल्पना कर रहे थे । जब भगवती ने जाबाला को देखने की इच्छा प्रकट की तो राजा जानश्रुति को ऐसा लगा जैसे अगाध जल में डूबते को सहारा मिल जाए ।

जाबाला ने जब सुना कि स्वयं भगवती ऋतंभरा आयी है तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई । उसने औपस्वि ऋषि और उनकी सहधर्मिणी भगवती ऋतंभरा के बारे में बहुत कुछ सुन रखा था । उसने कभी कल्पना तक भी न की थी कि घर बैठे उनके दर्शन हो जाएँगे । यद्यपि वह दुर्बल हो चुकी थी पर समाचार सुनते ही वह एकाएक उठ गई और भगवती के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया । भगवती ने उसे सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद दिया और स्नेहपूर्वक उसके सिर पर हाथ फेरा । जाबाला कृत - कृत्य हो गई ।

आसन ग्रहण करने के बाद भगवती ने राजा और आचार्य से कहा कि वे लोग जिस महत्वपूर्ण मंत्रणा में व्यस्त थे, उसे ही पूरा करें । भगवती बिटिया से थोड़ा देर तक अकेले में बात करने के लिए उत्सुक थी । इस ओर आचार्य ने जाने से पूर्व जाबाला को उसकी अस्वस्थ स्थिति के बारे में सावधान किया । जाबाला ने कहा कि वह इतनी अस्वस्थ नहीं कि भगवती की सेवा न कर सके । जाबाला ने भगवती के मना करने पर भी बड़े से ताड़ पत्र में जल लाकर भक्ति - भाव से भगवती ऋतंभरा के चरण धोए

और आंचल से पोंछ लिए । भगवती की आंखों में पानी भर आया और उसके कल्याण के लिए प्रभु से प्रार्थना की । भगवती ने उसे मां की तरह दुलारा । जिस तरह एक मां अपनी बेटी से उसके दुःख कष्ट के बारे में बेटी कहकर पूछती है उसी तरह भगवती ऋतंभरा ने जाबाला को बेटी कह कर अपनी बगल में बिठाकर उसके कष्ट के बारे में पूछा ।

जाबाला की आंखों से जलधारा फूट पड़ी । रुद्ध कंठ से उसने पूछा - भगवती, आप मां से बड़ी हैं । भगवती ने कहा कि मां से बड़ी कोई नहीं होती । और उसने जाबाला को बताया कि अच्छा यही होगा कि वह उसे मां कहकर पुकारे । इतने में उसने जाबाला को बताना आरम्भ किया कि रास्ते में उसने एक मातृ - पितृहीन किशोर को देखा जिसे यह पता नहीं कि स्त्री - पुरुष में क्या भेद है । उसने जीवन में पहली बार एक लड़की को देखा था जिसने उसने बताया था कि स्त्री पदार्थ क्या होता है और दूसरी स्त्री भगवती को उसे देखने का अवसर मिला । यह किशोर बालक भगवती से कहने लगा कि वह उसको क्या कहकर सम्बोधित करे । तब भगवती ने बताया कि उसे जैसे आयु के लड़के उस जैसी आयु वाली स्त्री को मां कहकर पुकारते हैं । भगवती ऋतंभरा की अपनी कोई सन्तति नहीं थी जिसके लिए उसके हृदय में लालसा बराबर बनी रही थी । उस किशोर के मां पुकारने पर उसकी यह लालसा पूरी हुई और चाहती थी कि जाबाला भी उसे मां कहकर ही पुकारे ।

जाबाला ने जब उस किशोर के बारे में सारी बात सुनी तो वह

आश्चर्य चकित रह गई । जाबाला ने एकदम भगवती से पूछा कि उस किशोर का क्या नाम है । भगवती ने कहा कि वह किशोर रिक्व मुनि का पुत्र है और इसीलिए लोग उसे रैक्व कहते हैं । नाम और गुण सुन कर जाबाला को झटका लगा क्योंकि उसे याद आया कि यह वह रैक्व है जो उसे एक बार अचेतनावस्था में मिला था ।

जाबाला का हृदय बड़ा कोमल था । उसे असहाय और सौभाग्य वंचितों के प्रति अपार सहानुभूति थी और भगवती ऋतंभरा से आग्रह करती है कि वह उसे सेवा - निवृत्त करने के लिए कोई रास्ता सुझाएं तथा जो रास्ता वह रैक्व को भी बताने के लिए तत्पर है । ऋतंभरा ने कहा कि वह रैक्व एवम् जबाला को उनके लिए नहीं बल्कि अपने लिए प्यार करती है । ऋतंभरा को अफसोस था कि वह जननी न बन सकी पर उसकी माँ बनने की लालसा पूरी हो गई थी क्योंकि रैक्व और जाबाला दोनों उसे माँ कह कर पुकारते थे जिसके लिए न जाने उसने किस - किस प्रकार की मनौतियाँ भी की है ।

जाबाला रैक्व के बारे में पूर्व ही जानती थी और माँ ऋतम्भरा से रैक्व के बारे में यूँ पूछती है जैसे उसने कभी पहले किसी समय में रैक्व के बारे में बहुत कुछ सुन रखा हो । जाबाला ने बताया कि उसने तो आचार्य के साथ बड़ा अशिष्ट व्यवहार किया था । तब माँ ऋतम्भरा बोली कि वह ऐसे अशिष्ट और अभद्र व्यवहार किए जाने पर रैक्व को डाटेगी । जाबाला ने बताया कि उसमें उसका क्या दोष है ? वह तो भोला है पर

है समझदार क्योंकि जो कुछ उसने उसको समझाया था, समझ गया था । माँ ऋतम्भरा ने जाबाला से पूछा कि उसने उसे ऐसा कब समझाया ?

जाबाला जो बात दीर्घकाल से छिपाती आ रही थी उसके इस तरह अचानक खुली जाने से इसका चेहरा लज्जा से लाल हो गया । भगवती ऋतम्भरा के मुख पर उल्लास से भरे चंचल भाव थिरक उठे । वे एकटक उस मनोहर मुख की शोभा निहारती रहीं । जाबाला की आँख झुक गई । फिर धीरे - धीरे बोली कि रैवत तो उसको ही शोभा कहता है । ऋतम्भरा समझ गई कि रैवत की शुभा जाबाला स्वयं है । माता ऋतम्भरा ने जाबाला से यह बात पूछनी चाही कि वह इतनी दुर्बल क्यों होती जा रही है जबकि वह उसे स्वस्थ और प्रसन्न देखना चाहती है । जाबाला, रैवत मुनि को एक बार फिर देखना चाहती थी । माँ ऋतम्भरा ने जाबाला को बताया कि भोलेराम तो स्वयं उसी की खोज में इधर - उधर भटक रहे है । भोलेराम का विश्वास है कि शुभा उस गाड़ी के पास ही कहीं चक्कर काट रही है । अब वह गाड़ी पर सागपात लादकर गाँव के दीन - दुखियों की सेवा करना चाहता है और यदि उसे तू दिख जाए तो तुझ भी गाड़ी में जोत देगा । माँ ऋतम्भरा ने जाबाला को बताया कि भोलेराम कह रहा था कि जो चीज़ शुभा की है वह मेरी भी है । जब यह बात जाबाला ने सुनी तो उसकी आँखों से आँसू बहने लगे और उसने माँ ऋतम्भरा को बताया कि उसे भोलेराम को देखने की इच्छा ही आतुर बना रही है । माताजी स्नेहाश्रुपूरित नेत्रों से जाबाला की ओर देखती रह गईं । थोड़ा सम्हलकर जाबाला ने रुक रुक कर कहा कि उसने बहुत बड़ा अपराध किया है जिसके लिए वह प्रायश्चित्

करने की बात सोच रही थी । गाड़ीवान मर गया, लेकिन उसके परिवार की किसी ने खोज - खबर नहीं ली । पिता जी अपनी बेटी जाबाला के सकुशल लौट आने पर खुशी में इतने मग्न हुए कि गाड़ीवान के बच्चे और पत्नी तक की सुध भी न रही । बेचारी जाबाला अपना बुद्धि को कोस रही थी लेकिन वह दिन - रात भोलेराम की बात इतनी गम्भीरता पूर्वक सोचने लगी कि उसे किसी को भी सुध - बुध तक न रही । अपराध उस रैक्व का था जिसने जाबाला के मन को ऐसे मोहग्रस्त कर लिया कि वह अपना कर्तव्य तक भी भूल गई । इतना होते हुए भी जाबाला अपने आप को दोषी ठहरा रही थी और माँ ऋतम्भरा से कह रही थी कि इसमें उस रैक्व का कोई दोष नहीं है ।

माताजी के चले जाने के बाद रैक्व वहीं रुक गए । बहुत देर तक प्रतीक्षा करने के बाद भी वे नहीं लौटी तो उन्हें चिन्ता लगी । रैक्व सोच रहे थे कि या तो वह राजा से मिलने गई हो । रैक्व विचारों में इस तरह उलझे हुए थे कि एक व्यक्ति उनके निकट आकर बोला - 'प्रणाम स्वीकार करें, ब्रह्मचारी जी ।' रैक्व ने आँख उठा कर देखा - 'मामा आप यहाँ कहाँ ?' मामा ने प्रश्न किया - 'माता जी कहाँ है ?' रैक्व ने कहा कि माताजी राजा से मिलने गयी है । प्रयत्न कर रही हैं कि दीन - दुखियों के कल्याण के लिए राजा कुछ करे । मामाजी ने रैक्व से पूछा कि क्या भगवती ऋतम्भरा उसकी माँ है । रैक्व ने बताया कि वह उसकी माँ है । भगवती ऋतम्भरा को राजा जानश्रुति ने इसलिए भेजा जो उनकी लड़की जाबाला (शुभा) की वह कभी किसी टूटी हुई गाड़ी के पास गई थी

जहाँ उसके शरीर में गन्धर्व घुस गया था जो उसका रक्त पी रहा था । जब रैक्व ने यह सुना कि शुभा बीमार है तो वह विचलित हो गया । फिर मामा ने उसे बताया कि महाराज कोहलीयो का गन्धर्व पूजन नाटक करवा रहे है । जिसमें स्त्रियाँ सजधज कर रंग भूमि पर उतरेगी । साधारण पुरुषों का उनके प्रति आकर्षण पैदा हो जाएगा । इस तरह फिर वर्णसंकर सन्तान पैदा होगी । रैक्व यह सब बातें नहीं जानता था । उसने कहा यह विवाह क्या होता है । मामा कहते हैं कि पुरुष किसी स्त्री से विवाह करता है अग्नि के चारो ओर सात फेरे देते है, वहीं विवाह होता है । मामा रैक्व से कहते है कि जिसके पास ज़मीन, जायदाद, माता-पिता, बहन भाई हों लोग उसी को लड़की देते हैं । रैक्व सोचता है कि उसका कोई नहीं है इसलिए उसे कोई विवाह नहीं करेगा फिर मामा ने उसे समझाया कि लड़का लड़की गन्धर्व विवाह कर सकते हैं परन्तु रैक्व के पल्ले कुछ नहीं पड़ा और मामा चले गए ।

मामा के चले जाने के बाद रैक्व उस गाड़ी की ओर चल दिए जहाँ पर गन्धर्व के होने का सन्देह था । वहाँ उसे उसकी दादी मिल गई जो वहाँ दीपक जलाने आई थी । रैक्व अपनी दादी से पूछता है कि क्या तुम्हे भी गन्धर्व मिला था ।। वह कहते हैं कि **ददददड्डे अज्ज अम्मे अ** वह तो कुंवारें लड़के लड़कियों को लगता है तो रैक्व उससे कहता है क्या तुम्हारा विवाह हो गया है । उसकी दादी हंस पड़ती है और कहती है बच्चा साथ देखकर भी ऐसा पूछते हैं फिर वह उससे पूछता है राजा की लड़की ठीक हो जाएगी न ? तो दादी कहती है इतनी पूजा हो रही है,

इसलिए अवश्य ठीक हो जाएगी ।

इतने में माता जी भी आ जाती है और दीदी ऋजुका उन्हें अपने दुख का कारण बताकर रो देती है । माताजी उसे दिलासा देते हुए कहती है कि कल तुम्हारे पति का श्राद्ध करवा देंगे । इसके बाद माताजी रैवत को गुरु - पूर्णिमा के अवसर पर आश्रम जाने को कहती है और साथ में यह भी आदेश देती है कि वहाँ आए लोगों का आदर सत्कार अच्छी तरह से करें । रैवत आश्रम की ओर चले जाते हैं । राजा जानश्रुति के यहाँ गन्धर्व पूजन नाटक आरम्भ हो गया । जाबाला को कुसुम्भी रंग के वस्त्र पहनाए गए । भरत - पुत्र ने उससे अशोक - वृक्ष का पूजन कराया । पूजा समाप्ति पर उसने शुभा को आदेश दिया । शृंगार का जल अशोक के मूल में धीरे - धीरे डाल दें ।

उस समय शुभा के मन में उस तरुण तापस रैवत का ध्यान आ गया और उसने जल चढ़ा दिया । इसके बाद नाटक आरम्भ हो गया ।

अगले दिन शुभा ने माता जी से ऋजुका का पता पूछ कर उसे अपने पास बुलाया और अपने किए पर क्षमा माँगी । फिर उसने ऋजुका से रैवत के विषय में पूछा । ऋजुका ने उन्हें बताया कि रैवत उन्हें भक्ति - भाव से याद करते हैं और माताजी से पूछते हैं कि वह शुभा को कैसे सम्बोधित करें । और तब माताजी मुस्करा कर रह जाती हैं । साथ में वह भी बता देती हैं कि रैवत को मामा ने बताया है कि 'जिसके माता - पिता नहीं होते, धन - सम्पत्ति नहीं होती, उसका विवाह नहीं होता ।' जिससे वह कुछ

दुःखी हो जाता है । इस पर जाबाला ऋजुका से कहती है फिर तो तेरा भैया देवता है ।

आगे जाबाला ऋजुका से पूछती है कि 'अब तेरे भैया क्या कर रहे हैं ?' वह उन्हें बताती है कि वह शास्त्र पढ रहे हैं और आश्रम चले गए हैं । जाते समय यह कहकर गए हैं कि मैं वहाँ से पढ़ - लिखकर शुभा के समान ही समझदार बनकर लौटूँगा और उसे दिखा दूँगा कि मैं भी उसी के समान समझदार हो गया हूँ । फिर जाबाला ऋजुका से कहती है कि तुझे आचार्य तांतपाद ने गाड़ी के पास त्रयोदशी को दीप जलाने को कहा है । मैं तुझे वहीं घर बनवा कर दे दूँगी । उसे तू खूब साफ - सुथरा रखना और हर त्रयोदशी को दीप जलाना । साथ में मेरा भी एक काम कर देना । पास में जो टीला है वहाँ मेरी ओर से हर रोज़ संध्या के समय धूप - दीप, नैवेद्य से परम वैश्वानर देवता की अर्चना करना और पूजा अपने भैया के समान ही पवित्र शरीर और मन से करना । अरुन्धती जैसा जो वहीं बैठी थी उसे भी अपनी दीदी रानी की बात पर मज़ाक सूझा और उसने ऋजुका से भक्ति - भावना मुद्रा में कहा 'मेरी ओर से भी दो फूल नित्य चढ़ा देना, एक देवता को और दूसरा जो देवता से भी बढ़कर हो उसको । इस बात पर जाबाला भड़क उठी और ऋजुका हँसती हुई चली गई । 'जब माताजी ने रैक्व ऋषि के आश्रम में जाने की बात कही थी, साथ में यह भी बता दिया था कि जिसे वह शुभा कहता है उसका असली नाम जाबाला है । वह महान दानी राजा जानश्रुति की एकमात्र कन्या है जो विदुषी, बुद्धिमती और सुशीला है । वह तुम्हें तभी मिल सकती है, जब

तुम उसी के समान शास्त्रज्ञ, विद्वान और शीलवान बन जाओ । यह बातें रैवव को अब समझ आने लगी । माताजी ने अब रैव व का उपनयन करवाया अनेक ऋषि सपरिवार पधारे । रैवव को नया संसार मिल गया । उसे अब विभिन्न आश्रमों में जाना पड़ता । इन यात्राओं में उसका परिचय कुशल विवेचक ऋषिकुमार आश्वलायन से हो गया । दोनों में घनिष्ठ मित्रता हो गई । ऋषियों की दुनिया में उन दिनों जितनी भी बातें मान्य थीं, उन सब पर दोनों में वाद होने लगा । एक दिन आश्वलायन ने अत्यावर रैवव से कहा कि तुमने एक दिन कहा था कि तुम प्राण की उपासना द्वारा एक दिन सारे विश्व को अपने वश में कर लोगे । लेकिन तुम अपने उद्देश्य से भटक गए । रैवव ने मित्र से कहा हाँ, यह सच है कि मेरा ध्यान आजकल कहीं और रहता है । मित्र कहता है मैं तो मुक्त - भोगी हूँ इसलिए समझ गया कि तुम्हारे मन में कोई प्रिया बसी है । रैवव कहता है - 'हाँ उसका नाम शुभा है लेकिन साथ में माताजी की अवज्ञा हो जाने के कारण डर जाता है । जिस पर उसके मित्र को उसके भोले स्वभाव पर हँसी आ जाती है और वह उसे समझाता है कि युवक मित्र आपस में हमेशा ऐसी ही बातें करते हैं । साथ में आश्वलायन उसे यह समझाता है कि बृहद्म - साक्षात्कार की प्रथम सीढ़ी प्रिय के ध्यान है । तुम्हारा व्यक्तिगत प्रेम परम वैश्वानर के प्रेम की पहली सीढ़ा है । वह भगवान की भेजी हुई एक ज्योति - किरण है । रैवव मित्र की इस बात से आश्चर्य चकित हो गए और सोचने लगे कि शुभा के प्रति जो आकर्षण है उसे देखने के लिए जो हृदय में भंयकर आँधी बह रही है वह परम वैश्वानर के प्रेम की सीढ़ी है, भगवान की भेजी

हुई ज्योति - किरण । रैवव ने अर्थ भरी दृष्टि से मित्र की ओर देखते हुए कहा - तुम तो बड़े ज्ञानी हो आज से मैं तुमसे कभी नहीं लड़ूँगा । वह मित्र से कहता है कि उसकी प्रेमिका उसे मूर्ख समझती है और फिर उसकी आँखें डबडबा आती हैं क्योंकि उसकी माताजी ने उसे यह कठोर आज्ञा दी थी कि वह शुभा के बारे में किसी से कुछ न कहे । वह मित्र से पूछता है यह गन्धर्व - पीड़ा क्या होती है ? मित्र उसे कहता है कि तुमने निरुक्त शास्त्र पढ़ा है जिसमें गन्धर्व और कन्दर्प का वर्णन आता है जो एक ही शब्द है । यह गन्धर्व प्रेम परवश युवतियों और युवकों को फूलों के बाण से बेधते हैं । तुम्हें भी उसने बेधा है और तुम्हारी शुभा को भी । तुम्हें पीठ पर बेधा है और उसे छाती में । इसलिए जब तुम शुभा का नाम लेते हो तो तुम्हारा हाथ पीठ के आघात को सहलाता है और शुभा का रक्त क्षीण हो जाता है । अब तुम माताजी से आज्ञा लेकर विवाह कर लो, गन्धर्व शान्त हो जाएगा । रैवव उसे कहते हैं कि मामा जी कहते हैं मेरा कोई नहीं है इसलिए मेरा विवाह नहीं हो सकता और फिर शुभा के पिता ने तो कोहलीयों का गन्धर्व - पूजन नाटक कराया था, इस लिए अब तक तो गन्धर्व भाग भी गया होगा । मित्र एकदम रैवव से कहता है तो तुम्हारी शुभा जानश्रुति की कन्या जाबाला है और रैवव रहस्य - उद्‌घाटन से चकित हो जाते हैं और मित्र के चेहरे को पढ़ने में असफल रह जाते हैं । महर्षि औषस्ति के आश्रम में पहुँचने पर रैवव माताजी के पास चले जाते हैं और आश्वलायन एक विशाल न्यग्रोध के [illegible] की छाया में बैठकर भूर्जपत्र पर गेरू की स्याही से आचार्य औदुम्बरायण को पत्र लिखते हैं जिसका सार था कि आपने मुझे जाबाला से विवाह करने का आदेश दिया था । लेकिन जाबाला विवाह के लिए तैयार नहीं हो पा

रही थी । आज मुझे जाबाला के योग्य वर मिल गया है । वह भगवती ऋतम्भरा का अंगीकृत पुत्र रैक्व है । यह मेरा अन्तिम निश्चय है कि उसका विवाह रैक्व से हो हो । और फिर वह पत्र उसने किसी ब्रह्मचारी के हाथ भेज दिया ।

आश्वलायन को अपनी मन की बात बताकर रैक्व का मन उद्विग्न सा हो गया और उसने आते ही माताजी को सब कुछ बता दिया । माता जी अपने भोले पुत्र पर मुस्कराकर रह गई और उसे समझाते हुए कहने लगी कि सच्चे मित्रों से कभी कुछ हो नहीं छुपाना चाहिए । उसके बाद माताजी कहती है कि तुम पिताजी को प्रणाम कर कुछ खा लो । रैक्व स्नान करके महर्षि औषस्ति के पास गए । उन्हें साष्टांग प्रणाम किया । महर्षि औषस्ति ने उन्हें प्यार किया और परम वैश्वानर भगवान की कृपा प्राप्त होने का आशीर्वाद दिया । इसके बाद महर्षि औषस्ति ने रैक्व से शास्त्रीय मीमांसा के बारे में पूछा - जिसका उत्तर रैक्व ने कुछ इस प्रकार से दिया- भगवन् । शास्त्रों का अध्ययन मनन करने के बाद भी प्राणतत्व की महिमा नहीं भूल पाता हूँ । इस पर महर्षि बोले सचराचर विश्व रूप भगवन्त के उपासक सनत्कुमार के पास समस्त शास्त्रों का अध्ययन करके जब देवर्षि नारद ने जाकर कहा कि भगवन् मैं मन्त्रविद् हो गया हूँ पर आत्मविद् नहीं तो उन्होंने कहा था - आत्मविद् बनने के लिए 'नाम - ज्ञान' की उपासना करना आवश्यक है । उसके बाद 'वाणी' जो कि नाम से भी बड़ी है उसकी उपासना करे । 'वाणी' से 'मन' बड़ा होता है । तू मन की

उपासना कर । 'मन' से 'प्राण' बड़े हैं और प्राण - ब्रह्म की उपासना का अर्थ है - निरन्तर आगे बढ़ते रहना । मगर तात तुम क्यों रुक रहे हो, तुम्हें तो आगे जाना है । सनत्कुमार ने आगे नारद से कहा था कि सत्य तक पहुँचने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है । ज्ञान मनन की अनुपस्थिति में नहीं हो सकता, मनन श्रद्धा के बिना असम्भव है और श्रद्धा निष्ठा के बिना असम्भव है । जो कर्मण्य नहीं वह निष्ठावान् भी नहीं और कर्म किसी - सुख की आशा के बिना नहीं किया जाता । रैक्व की समझ में जब यह बातें नहीं आईं तो महर्षि ने उसे अपने ढंग से समझाना आरम्भ कर दिया वत्स, जिसे तुम्हें ब्रह्माण्ड में वायु कहते हैं, वह गति - मात्र है । वह चेतन का आधार है, लेकिन वह स्वयं चैतन्य नहीं है । इस जड़तत्व से भी सूक्ष्मतर तत्व प्राण है । इससे भी सूक्ष्मतर तत्व मन है । मन मननशील है, इस अर्थ में वह प्राण से भिन्न है । मन के भीतर एक और सूक्ष्म तत्व है जिसे बुद्धि कहते है । इसको पुराण ऋषियों ने 'विज्ञान' कहा है । यह सत्य से असत्य को अलग करती है, बुद्धि के इस धर्म का नाम विवेक है । सत्य को पाने के लिए किसी दृढ़ अवलम्ब की जरूरत होती है । वह दृढ अवलम्बन सच्चिदानन्द - स्वरूप परम ब्रह्म है जो मनुष्य के भीतर भी है और बाहर भी । महर्षि रैक्व को 'प्रज्ञा' नामक एक शक्ति के बारे में बताते हुए कहते है यह बुद्धि का नहीं, बोध का विषय है । शान्त और स्थिर चित्त से बैठोगे तो उसकी झलक मिलेगी । वह तेज तुम्हारे दरवाजे पर दस्तक दे रहा है परन्तु तुमने उसका कभी स्वागत नहीं किया । मनुष्य उस परम प्रेमी की दस्तकों की निरन्तर उपेक्षा किए जा रहा है । प्रयत्न

करो और उसे अपने हृदय - देश में पकड़ कर बिठा लो और उसके चरणों में सब कुछ निछावर कर दो ।

महर्षि के अन्तिम वाक्यों ने रैक्व को और दिया । उन्होंने ऋषि से कहा, भगवन् ! मैं उसके पैरों की आहट तो सुन रहा हूँ । परन्तु मन में अनेक कपाटें हैं जो द्वार खोलना सम्भव नहीं जान पड़ता । महर्षि औपस्ति ने प्रेमपूर्वक उनके सिर पर हाथ फेरा जिससे रैक्व को जान पड़ा कि वह एक प्रकाश लोक में पहुँच गए हैं । उन्हें ऐसा जान पड़ा कि विराट् जड़ पिण्ड के अन्धकार में रुद्ध चैतन्य धीरे - धीरे अंधकार से प्रकाश की ओर बढ़ रहा है । फिर उसने महर्षि से पूछा, 'भगवन् मैंने क्या देखा ?' महर्षि ने कहा, 'बेटा तुमने सत् अर्थात् जैसा है वैसा देखा रैक्व की आखों में व्याकुलता के भाव देख महर्षि ने उसे समझाया कि माता जी की आज्ञा का पालन करना ; तुम्हारा धर्म है । फिर भी एक बात याद रखो 'संसार में जहाँ कहीं प्रेम या लगाव का भाव दिखाई देता है वह उपेक्षणीय नहीं है । वह परम - प्रयाण के प्रेम का अंगुल - निर्देश मात्र है ।' इस बात पर रैक्व के मन में शुभा का आकर्षक रूप आ गया ।

उसने सोचा कि क्या शुभा भी कोई अंगुलि निर्देश है । इसके बाद रैक्व महर्षि से आज्ञा लेकर चल दिए ।

अगले परिच्छेद में हम देखते हैं कि आचार्य औदुम्बरायण राजा जानश्रुति से आश्वालायन के लिए जाबाला का हाथ माँगते हैं । राजा तो बहुत प्रसन्न हो जाते हैं लेकिन अरुन्धती ने इस बात का प्रतिवाद विवाह किया और कहा

कि दीदी इस बात को कभी स्वीकार नहीं करेगी । यह कहकर वह भाट से चली गई और राजा और आचार्य दोनों हतप्रभ हो गए । आचार्य इस चिन्ता में थे कि अब वह आश्वलायन को क्या मुंह दिखायेंगे कि इतने में ही एक ब्रह्मचारी एक पत्र लेकर आ गए और आचार्य कहे बिना ही चले गए । अरून्धती भी चली गई । राजा जानश्रुति और जाबाला दोनों का उद्वेग बढ़ता ही गया । जाबाला मन ही मन अरून्धती के प्रति कृतज्ञ थी । उसने उसके मन की बात उसके पिता तक पहुँचा दी । राजा संकोच वश लड़की से कुछ भी नहीं कुछ पा रहे थे । अन्त में उन्होंने सोचा कि वह इस बारे में भगवती ऋतम्भरा से सलाह लेंगे । जाबाला भी पिता के साथ वहाँ गई और दीदी को भी साथ ले गई क्योंकि वह भी एकान्त में उनसे मिलना चाहती थी । औधस्ति आश्रम में पहुँचकर जाबाला सीधे माताजी से मिलने गई । जैसे ही उसने 'मां' शब्द कहा भगवती हड़बड़ा कर उठी और जाबाला को गले से लगा लिया । जाबाला के नेत्रों से अश्रुवर्षा होने लगी और वह माताजी से कुछ भी न कह पायी । इतने में माताजी को ध्यान आया कि राजा जानश्रुति आश्रम द्वार पर रुके हैं और औधस्ति की अनुमति की प्रतीक्षा में हैं वह जाबाला को आश्वस्त कर राजा के सवागत के लिए चल पड़ीं । इधर जाबाला की नज़रें रैक्व को ढूँढने लगीं । वह सोचने लगी क्या रैक्व अभी भी वैसा है या कुछ बदल गया है ?

माता जी के आने में देर होने तक तो जाबाला बहुत ही विचलित हुई और सोचने लगी कि उनके आते ही वह अपनी समस्या उनके सामने रख देगी । वह इसी उधेड़ बुन में थी कि कोई 'मां' कहता हुआ अन्दर आ

गया और वह रैक्व को सामने देख हैरान रह गई । रैक्व को भी अपनी शुभा देखकर हैरानी हुई और आँखें मलते हुए कहने लगा - 'शुभे, मैं कहाँ यह स्वप्न तो नहीं देख रहा ।' जाबाला ने मृदुकंठ से कहा 'नहीं, तापसकुमार तुम स्वप्नावस्था में नहीं, जाग्रत अवस्था में हो ।' और उसने फिर जाबाला से कहा कि मैंने तुम्हारे प्रति अभिलाष - भाव रखा है जिसके कारण आश्वलायन कहता है कि तुमने लड़की की इच्छा जाने बिना ही यह भाव पाल लिया यह पाप है । शुभा ने कहा कि वह माताजी से आज इसी विषय पर बात करने वाली है और रैक्व से कहा कि तुम तब तक कहीं चले जाओ और अभिलाष वाली बात किसी से न कहना । और साथ में कहती है अगर तुमने मेरे कारण प्राणायाम, समाधि जप - तप छोड़ दिया है तो मैं तुम्हें नहीं मिलूँगी । रैक्व उसे मनाते हुए कहता है कि तुम मुझ पर इतना क्रोध मत करो । मुझे वह गाड़ी मँगवा दो जो मुझे अपार शक्ति देती है । तब मैं प्राणायाम कर सकूँगा । इस पर शुभा कहती है, 'भोलेराम वह गाड़ी तुम्हें शक्ति नहीं देती, वह तो कोई और ही है जो तुम्हें शक्ति देता है ।' अच्छा । अब तुम जाओ क्योंकि माता जी आती ही होंगी । रैक्व उसे मिले बिना न जाने का वादा लेकर चले गए । लेकिन उनका मन आश्वस्त न हो सका क्योंकि जब शुभा पहली बार मिली थी तब भी उसने रैक्व को छिपने को कहा था और फिर स्वयं न जाने कहाँ चली गई थी ।

रैक्व अब यज्ञशाला की ओर गए । वहाँ उन्हें एक ब्रह्मचारी से मालूम हुआ कि राजा जानश्रुति भी पधारे हैं । उसके मन में उनसे मिलने की

उत्कंठा जाग गई । लेकिन संकोचवश उधर न जा सके और शुभा की बातों का अर्थ समझने का प्रयत्न किया । फिर उन्हें महर्षि ओषस्ति के कहे शब्द याद आ गए कि मनुष्य में 'प्रज्ञा' नामक शक्ति है जो अनुभव कराती है । उसकी झलक हमें शान्त और स्थिर चित्त में मिलती है । वह परम प्रेमिक तुम्हारा दरवाज़ा खटखटा रहा है । तुम उसे अपने हृदय में बिठा लो । रैवत को लगा कि शुभा प्रज्ञा रूप है । आज अनायास ही उसके हृदय के द्वार खुल गए और बहुत दिनों के बाद उन्होंने अपने हृदय में स्थिरता का अनुभव किया ।

रैवत कुछ खिन्न से बैठे थे कि पीछे से आश्वलायन ने आकर प्रेम से उनके कन्धे पर हाथ रख दिए । मित्र को देखकर रैवत का चेहरा प्रफुल्लित हो गया । मित्र ने रैवत से कहा तुम्हें किसी ऐसे गुरु की आवश्यकता है जो तुम्हें बता सके कि तुम क्या हो ? जब तक तुम स्वयं को न पहचानोगे तब तक यूँ ही भटकते फिरोगे । रैवत ने कहा ऐसा गुरु कहाँ मिलेगा । आश्वलायन ने कहा यहाँ एक जटिल साधु पास ही एक मैदान में बैठे हैं । वे विचित्र हैं । ब्राह्मण नहीं हैं पर स्वयं को अनेकान्त-वादी कहते हैं । कहते हैं हर आदमी अपनत्व सत्य होता है । अपने श्रम से उत्पन्न अन्न खाते हैं । महर्षि ओषस्तिपाद पर इनकी अपार श्रद्धा है परन्तु जब उनसे मिलने आते हैं तो केवल हाथ जोड़ देते हैं, महर्षि उनका हाथ अपने हाथ में ले लेते हैं । दोनों चुपचाप घन्टों बैठे रहते हैं और फिर एकाएक चल देते हैं । रैवत ने उत्कंठा से कहा कि फिर तो वह मुझ से भी नहीं बोलेंगे । मित्र ने कहा कि तुमसे तो अवश्य बोलेंगे । जब

दोनों मित्र वहाँ पहुँचे, जटिल मुनि घास छील रहे थे। रैक्व यह देख हैरान हुए। जटिल मुनि ने आश्वलायन से पूछा यह आयुष्मान कौन है? तो आश्वलायन ने पूरा परिचय देते हुए कहा ये मेरे मित्र रैक्व हैं, व्याकुल हैं और स्वयं को भटका हुआ अनुभव कर रहे हैं, आपसे कुछ सहायता के पाना चाहते हैं। मुनि ने कहा कि सहायता के बदले में इन्हें मेरे लिए थोड़ी सी घास छीलनी होगी और आश्वलायन ने कहा कि तुम जा सकते हो। आश्वलायन चले गए। लेकिन रैक्व मुनि के हाथ पर फफोले देख कर डर गए। तो मुनि हँस पड़े और रैक्व से कहा तुम घास खोदो, चलो अपना हाथ दिखा दो, बड़ा कोमल होगा। मुनि ने रैक्व से कहा तुम वृथा मोह के बहकावे में भटक गए हो। तपस्या का फल यह नहीं कि आदमी में कोई ममता न बचे, वह तो तुम्हें अनायास ही विधाता की ओर से मिल गया था। मैं जो कुछ कह रहा हूँ वह अलौक है। रैक्व ने कहा - 'भगवन्! मैं कैसे कहूँ कि आप अलौक कह रहे हैं, मैं शब्दविद् तो हो पाया हूँ, मन्त्रविद् अभी नहीं हो पाया हूँ।'

इस पर मुनि ने कहा - देखो हम दोनों के हाथों की रेखाएँ एक समान हैं फिर भी तुम्हारी एक रेखा मुझ से भिन्न है। यह रेखा बाहुमूल से अनामिका तक गई है और ज़रा सा मध्यमा की ओर झुक गई है। यह तुम्हें मेरे समान न रहने देगी इसीलिए मैंने तुम्हारे हाथ से खुरपा छीन लिया। क्योंकि यह रेखा तुम्हारे सौभाग्य और सिद्धि की सूचना दे रही है। रैक्व ने आश्वस्त होकर कहा कि इसका अर्थ यह है कि मनुष्य को कुछ भी नहीं करना होता है, यह तो पहले से ही तय होता है। मुनि ने कहा 'जिसे तुम परम दुर्भाग्य समझते हो, वही मेरी सिद्धि है।' मुझे पहले

लगता था कि मेरे समान भाग्यहीन कोई नहीं है । जब मैं दूसरे बच्चों को माँ के हाथ से प्रसन्नता पूर्वक भोजन करते देखता था तो मेरे मन में हूक उठती थी । लोग सदैव मेरा तिरस्कार करते थे । एक दिन मैंने संकल्प किया कि भिक्षा नहीं माँगूगा । कई दिन तक मैं कंदमूल ही खाता रहा । एक दिन मेरे पेट में दर्द हुआ, बेहोश होकर गिर पड़ा । शायद कुछ ऐसी वस्तु खा गया जो खाने योग्य न थी । संज्ञा लौटने पर एक वृद्ध माता की गोद में अपना सिर पाकर आश्चर्यचकित हो गया । माता की आँखों में करुणा का सागर लहरें मार रहा था । जब माता जी ने मेरे बारे में पूछा तो मैंने अपनी दुर्भाग्य की सारी कहानी सुना दी । माता जी ने मुझे कहा कि तुम्हें अपने को इतना हीन नहीं समझना चाहिए किसी बड़े गुरु का शरण में जाना चाहिए । मुनि के यह कहने पर कि मुझे अभी तक कोई गुरु नहीं मिला माता जी ने उसे कहा कि 'तेरा गुरु तेरे भीतर बैठा है । तू अपने मन में देख ।' मुनि जब ध्यान में बैठ गए माता जी अन्तर्धान हो गई । तुम्हें मेरे समान समानधर्मा कहीं भी नहीं मिल सकता । आज पहले बार रैवत को लगा कि कोई मुनि उसके स्तर पर उतर आया है । रैवत ने भी उन्हें अपनी कहानी सुना दी और कहा कि महान गुरुओं के उपदेश मन पर टिकते ही नहीं हैं । कोई बाधा उन्हें रोक लेती है । ध्यान करते समय शुभा पहले आ जाती है । अखंड - ज्योति का साक्षात्कार शुभा के रूप में ही होता है । जटिल मुनि प्रतिउत्तर में कहते हैं देखो आयुष्मान ! शुभा से तुम्हें प्रेम है और किसी तरुणी की ओर आकृष्ट होना 'काम' है । अपने आप को निछावर कर देने की भावना को 'प्रेम' कहा जाता है । मेरे जीवन में कभी कोई तरुणी आई ही

नहीं । लेकिन तुम भाग्यवान हो । पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं - एक तो कामजन्य सम्बन्ध जो धर्मसंगत नहीं होता, दूसरा जो धर्मसंगत होता है, जिससे शास्त्र में विवाह कहते हैं और तीसरा उद्वाह है जिसमें पति पत्नी को और पत्नी, पति को ऊपर की ओर वहन करते हैं । अर्थात् परस्पर की आध्यात्मिक चेतना को परिष्कृत करते हैं । और माताजी ने बताया था कि अगर ऐसा पत्नी मिले जो आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाए, तो उसे विवाह नहीं, बल्कि उद्वाह कर लेना । ऐसा कहकर जटिल मुनि के रैक्व को जाने का आदेश दिया और घास छीलने लगे ।

काफी देर बाद जब भगवती सत्यकामा राजा जानश्रुति की आवभगत कर वापिस लौटी तो सोचने लगी कि जाबाला अकेली बैठी ऊब गई होगी । लेकिन जाबाला का प्रसन्न चेहरा देखा तो उन्हें कुछ सन्तोष हुआ । फिर उन्होंने जाबाला से कहा कि तुम अपने मन की बात मुझ से कह दो । जाबाला ने सोचा शायद रैक्व ने उनसे सब कुछ कह दिया होगा और पूछ बैठी क्या वह रैक्व आपसे मिला था । माताजी ने कहा नहीं । मैं जो उसे महर्षि के पास छोड़ आई थी और तुम्हारी आ जाने से मैं उसे भूल ही गई । उसने तो सवेरे से कुछ भी नहीं खाया । यह सुनकर जाबाला को धक्का लगा । उसने माताजी से साफ बता दिया कि रैक्व यहाँ आए थे लेकिन मैं उनके सामने लज्जा अनुभव कर रही थी और इसलिए उन्हें जाने को कह दिया था । चलो, अब मैं ही उन्हें ढूँढ लाती हूँ । माताजी ने कहा, नहीं मैं ब्रह्मचारी को भेजकर उसका पता लगवा लूँगा । कुछ देर बाद ब्रह्मचारी

यह सन्देश लाया कि रैक्व अतिथिशाला के पास वाले इमली के वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठे हैं और बुलाने पर भी नहीं बोल रहे हैं तो माताजी कुछ उद्विग्न सी अवश्य हुईं और जाबाला को लेकर उसी ओर चल पड़ी। रैक्व ध्यानावस्थित थे। आज उन्हें नया उल्लास, नई ज्योति मिली थी। ऋषि मुनि से उन्हें नया प्रकाश मिला था। आज वह मन ही मन शोभा के बारे में सोच रहे थे। वह सोचने लगे कि मैं शोभा के प्रति पाप - भावना से चालित हूँ। वह समझदार है, उसने मुझे उस मार्ग से विरत किया। मेरे मन में ही केवल उसके लिए प्रेम होना चाहिए। अब मैं उससे उद्वाह कर लूँगा। आज शुभा की मानसी मूर्ति प्रसन्न मुद्रा में उनके सामने खड़ी होकर कहने लगी, 'ऋषिकुमार, तुमने आज जो पाया है, वह कम लोगों के भाग्य में होता है। सम्हाल कर रखो। खोना मत।' यही सोचते - सोचते वह समाधिस्थ हो गए। जब वह ऐसी अवस्था में थे, माताजी ने आकर उनके सिर पर स्नेह भरा हाथ रख दिया और उस शीतल स्पर्श से रैक्व की आँखें खुल गईं। वह माँ से बोले कि जो पिताजी से सुना था, उसे आज प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। माँ ने रैक्व से कहा बेटा, 'चलो घर कुछ खा पी लो। रैक्व ने माँ से कहा तुम कुटिया में चलो, मैं बाद में आऊँगा। वहाँ कोई तुम्हारा इन्तज़ार कर रहा है। जाबाला जो पीछे खड़ी थी, लज्जा और सुख का अनुभव करते हुए बोली - 'मैं तो यहीं हूँ, ऋषिकुमार। माताजी के साथ आई हूँ। तुम्हें इनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। और रैक्व उठकर चलने लगे और माता जी ने देखा कि अतिथिशाला के द्वार पर खड़े राजा जानश्रुति यह दृश्य चुपचाप देख रहे थे।

रैक्व गाड़ी पा गए गए थे । वे दिन - भर सेवा - कार्य में लगे रहते । परम वैश्वानरी की सच्ची उपासना कहकर माताजी ने उन्हें इसी ओर प्रवृत्त किया था । उन्होंने आयुर्वेद का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया था । दूर - दूर से आए हुए रोगियों की सेवा करते, जो नहीं आ पाते उनके घर जाकर यथा सम्भव चिकित्सा करते । ऋजुका उनकी सहायिका थी । रैक्व सायंकाल थक कर चूर हो जाने पर भी गाड़ी तक आना नहीं भूलते थे । रात को उनका जप - तप, ध्यान - धारणा का काम चलता रहता । पीठ की बुजली दिन भर गायब रहती पर गाड़ी के स्पर्श से ही जाग उठती । प्रथम ध्यान उनका शुभा पर ही केन्द्रित होता । धीरे - धीरे वे उसका सहारा पकड़कर चेतना के विभिन्न स्तरों को पार करने में सफल होते । रैक्व केवल जानते थे कि ऋजुका नित्य शुभा से मिलने जाती है पर दूसरी ओर ऋजुका किसी भी बात से अनभिज्ञ न थी ।

रैक्व को अपने मन पर काबू पाने के प्रयास में परम वैश्वानरी का ध्यान करना पड़ा । परम वैश्वानरी जो शिवरूप है, जो रूपे - रूपे प्रतिरूप बभूव है । रूप मात्र उन्हीं का रूप है । रूप में सर्वश्रेष्ठ रूप है शुभा का । शुभा ही परम वैश्वानरी की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है । रैक्व के मनोमन्दिर में एक बार शुभा परम वैश्वानरी बन रही है, दूसरे क्षण में वह परम वैश्वानरी शुभा बन रहे हैं । इस खेल का अन्त नहीं । रात भर उनके मन में यही खेल बारी - बारी से खेला जाने लगा ।

राजा जानश्रुति रैक्व से परम ज्ञान का प्रवचन सुनना चाहते थे ।

उन्होंने रैक्व मुनि को बताया कि जब तक वे अपना मौन भंग नहीं करेंगे तब तक यज्ञ चलता रहेगा । यह ज्ञान - यज्ञ भगवती ऋतम्भरा की आज्ञा से आयोजित करवाया गया था ।

राजा जानश्रुति अपनी कन्या जाबाला को रैक्व जैसे ज्ञानी को देने के संकल्प से उसके पास आए हैं । आचार्य औदुम्बरायण ने स्पष्ट किया कि यज्ञ में कन्यादान शास्त्र - सम्मत है । पुराण ऋषियों ने इसे उत्तम विवाह बताया है । इसलिए यह ज्ञान - यज्ञ आयोजित किया गया ।

महाराज जानश्रुति ने रैक्व से को आसन - ग्रहण करने का और ज्ञान - यज्ञ को सफल बनाने का अनुरोध किया । रैक्व की कातर दृष्टि शुभा के चेहरे पर टिकी रही । धीरे - धीरे रैक्व दृष्टि जबाला के मुख पर से हटी । वे बहुत शान्त मृदु कंठ से बोले कि उन्होंने मौन रहने का निश्चय किया था किन्तु महाभागा शुभा के प्रति उनके मन में अपार आदर व सम्मान था जिसने उसे ज्ञान का मार्ग दिखाया था । उन्होंने राजा जानश्रुति और आचार्य औदुम्बरायण से प्रार्थना की कि वे उसे मोहक मनोरम शुभा का मुख देखने का अवसर दें - ताकि वह उपोद्ग्रहण कर सकें । सारी सभा 'जय - जय' शब्द गूंज उठी । रैक्व और जाबाला दोनों ने माता ऋतम्भरा को साष्टांग प्रणाम किया । माताजी ने दोनों को प्यार से उठाया और आचार्य की ओर देख कर कहा कि अब विवाह की सब विधियाँ पूरी कर ली जाएँ । रैक्व ने चकित दृष्टि से माता जी की ओर देखा और जाबाला की आँखें धरती पर गड़ी रहीं । सभा ने फिर एक बार जय -

निनाद किया । रैक्व ने कातर भाव से माताजी की ओर देख कर अत्यन्त भोलेपन से कहा कि विवाह नहीं मां, उद्वाह । माताजी पुत्र की ओर देख कर बोली - एक ही बात है बेटा क्योंकि दोनों की आत्मा उसी वायु - रूपी प्राण शक्ति से संचरित है ।

ख) 'अनामदास का पोथा' उपन्यास का तात्विक विवेचन :-

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'अनामदास का पोथा' एक नवीनतम कृति है जो कि उपनिषद् कालीन विशेषकर छान्दोग्योपनिषद् की ब्रह्म - ज्ञान साधना तथा तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर आधारित है । अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में इस कृति का अपना एक विशेष एवं महत्व पूर्ण स्थान है । प्रायः आचार्य द्विवेदी अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में महाकाव्यात्मक शिल्प एवं गठन का प्रयोग करते हैं और इसकी शिल्प संरचना में कुछ अन्य आकर्षक तत्वों का भी ध्यानाकर्षक समावेश किया है ।

'अनामदास का पोथा' उपन्यास का ढांचा ऐतिहासिक है । द्विवेदी जी ने इसमें अनकूल काल्पनिक प्रसंगों के द्वारा उपनिषद् - कालीन प्रसिद्ध लोक कथा को अत्यन्त रोचक एवं मनोरम ढंग से प्रस्तुत किया है । परम्परागत भारतीय आदर्शवादी प्रेम को राष्ट्रीय स्तर पर लेखक ने उभारा है और कथा को अत्यन्त व्यापक रूप देकर उदात्त एवं लोकव्यापी बनाया है । मर्यादित नारी प्रेम तथा पुरुष के नारी के प्रति आकर्षण की कथा को अत्यधिक प्रभावशाली रूप देने में लेखक सफल रहे हैं । औपनिषदिक कथा को आधार एवं प्रेरणा स्त्रोत के रूप में स्वीकार करके लेखक ने इस उपन्यास की कथा को सामयिक एवं परिवर्तित समाज - व्यवस्था के अनुसार रूप

एवं आकार प्रदान किया है । तप और त्याग से अधिक दीन - दुखियों एवं दरिद्रों के प्रति सेवा - भाव को लेखक ने कथा के माध्यम से नए रूप में प्रस्तुत किया है । अतएव ऊँच और नीच, अमीर और गरीब, शासक एवं प्रजा, तपस्वी एवं गृहस्थी के पारस्परिक द्वन्द्व का कथा भी इसमें चित्रित की गई है । विधि - विधानों द्वारा प्रतिपादित विवाह के स्थान पर स्वच्छन्द प्रेम की स्वीकृति देकर लेखक ने उपन्यास के अन्त में रैवत से कहलवाया है - 'विवाह नहीं माँ, उद्वाह ।'[1]

राजनैतिक विस्फोट की कथा के साथ - साथ लेखक ने सामाजिक एवं वैयक्तिक संघर्ष को भी कथा के माध्यम से व्यक्त किया है तथा कथा को मनोवैज्ञानिक आधार देकर लेखक ने अपनी मौलिक एवम् उदात्त वैचारिक शैली का परिचय दिया है ।

आचार्य द्विवेदी के कथा - साहित्य की अन्य विशेषताओं पर ध्यान देने पर एक तथ्य स्पष्ट रूप में उभरकर सामने आता है कि अपने कथ्य के प्रति उनकी दृष्टि सदैव मानवतावादी रहती है । वे अपने कथ्य का चुनाव करते समय सांस्कृतिक ऐतिहासिक कथानक चुनते अवश्य हैं किन्तु मूल स्वर मानवतावाद की स्थापना का ही रहता है । उनके कथ्य जनवादी होते हैं अपितु राष्ट्रोन्नति की आवश्यकता पर भी उसी लगन के साथ बल देते हैं । उनके अब तक के चार उपन्यास उनके कथ्य की इसी विशेषता को उजागर करते हैं जबकि द्विवेदी जी के सभी उपन्यास ऐतिहासिक हैं ।

1- 'अनामदास का पोथा' हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-184

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में जहाँ वे हर्षकालीन वातावरण का सजीव चित्रण प्रस्तुत करने में समर्थ रहे हैं वहीं 'चारुचन्द्रलेख' में उनकी दृष्टि भारतीय इतिहास की दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी के सातवाहन साम्राज्य के उत्थान - पतन का लेखा - जोखा प्रस्तुत करने में सजग रही है। 'पुनर्नवा' में चौथी शताब्दी को आधार बनाया गया है। कालिदास तथा समुद्रगुप्त आदि को भी इस उपन्यास में प्रस्तुत कर लेखक ने इसे ऐतिहासिक बनाने का पूरा प्रयास किया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि यह उपन्यास इतिहास को आधार बनाकर आधुनिक जीवन - मूल्यों को प्रस्तुत करने में अधिक समर्थ रहा है। द्विवेदी जी का चौथा उपन्यास 'अनामदास का पोथा' है जिसमें द्विवेदी जी ने अपने कथ्य सम्बन्धी उसी अनुराग का परिचय दिया है जिसे पिछले उपन्यासों में देखा गया है। इसमें उनकी दृष्टि उपनिषद कालीन भारत की ओर उन्मुख हुई है। उन्होंने इस के अन्तर्गत छान्दोग्य उपनिषद् के ऋषि रैक्व का आख्यान प्रस्तुत किया है। कथ्य की गहनता में एक तथ्य यह भी दिखाया गया है कि द्विवेदी जी यद्यपि इसका सन्धान इतिहास के गर्भ से करते हैं तथापि उनका स्वर नितान्त सामयिक रहता है। वे इतिहासगत तथ्यों के साथ आधुनिक कथ्य का ऐसा तालमेल बैठा देते हैं कि सामान्य जिज्ञासु इसके अन्तर्गत छिपी विडम्बना रेखा का आभास भी नहीं पता। 'उन्होंने इतिहास की घटनाओं को नहीं के बराबर महत्व दिया है उनका सारा ध्यान युग विशेष में अव्यवस्था और अनाचार से पीड़ित जन के विद्रोह को प्रस्तुत करने की तरफ रहा है।'[1]

द्विवेदी जी का कथा कहने का अपना एक अलग ही ढंग है।

1- समीक्षा जून 74 पृ0-15

अपने तीन उपन्यासों को प्रारम्भ करने से पूर्व उन्होंने जो आमुख प्रस्तुत किया है, वह सामान्य पाठक को भ्रम में डाल देता है । केवल 'पुनर्नवा' इसका अपवाद है । 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में उन्होंने आस्ट्रिया की ईसाई महिला मिस केथराइन की मनगढ़ंत कथा के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह पूरी आत्मकथा उन्होंने व्योमकेश शास्त्री (जो स्वयं द्विवेदी जी) हैं को दी थी । द्विवेदी जी ने केवल उसको इस रूप में प्रस्तुत करने का कार्य किया है । 'पण्डित जी का दादी चाहे वध्या का पुत्र मात्र न रही हो किन्तु बाणभट्ट की कथा के सम्बन्ध में उसका यह प्रसंग कल्पना का छद्म विलास मात्र है ।'[1]

'अनामदास का पोथा' का कथानक बड़े ही कौशलपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है । विषय के कुशल चयन कर्ता होने - के साथ - साथ वे इसके प्रस्तुतीकरण की अद्वितीय कला से भी परिचित हैं । उसका प्रस्तुतीकरण पाठकों को अभिभूत किए बिना नहीं रहता । वे अपने कथ्य के सन्दर्भ में मार्मिक स्थितियों तथा प्रसंगों का भी अनिर्वचनीय वर्णन करने में सक्षम रहते हैं । यदि हम उनके बाजार का वर्णन पढ़ते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि हम सचमुच बाजार में घूम रहे हैं । उनके अखाड़े का वर्णन पढ़ने पर हमें ऐसा लगता है जैसे हम कुश्ती देख रहे हैं । विषय को प्रस्तुत करने में द्विवेदी जी की एक अप्रतिम विशेषता यह दिखाई देती है कि उन्होंने संस्कृत के अनेक श्लोकों, अपभ्रंश के अनेक दोहों तथा प्राकृत की कई कथाओं को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि कोई भी इस भेद का संधान

1- हिन्दी भाषा की आधुनिक समस्याएँ - डा0 सरनाम सिंह शर्मा, पृ0-184

नहीं कर पाता कि वास्तव में कौन सी वस्तु कहाँ से ली गई है । आचार्य जी ने अपभ्रंश के कई शब्दों की स्वयं भी रचना की है किन्तु सामान्य जन उन्हें पहचान नहीं पाता ।

द्विवेदी जी की यह एक सर्वाधिक प्रकाशाली विशेषता यह है कि भारतीय ऐतिहासिक कथानक को आधार के रूप में ग्रहण करने के पश्चात् भी उनकी दृष्टि नितान्त सामयिक रहती है । वे आधुनिक चिन्तन और आधुनिक उतार चढ़ाव से अनभिज्ञ नहीं रहते है इसी तरह 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में भी आधुनिक सन्दर्भों को बार - बार प्रकट करने में सदैव सचेष्ट रहते हैं ।

वे बार - बार इस तथ्य पर बल देते है कि प्रजा की दुरवस्था के समय यदि शासक अपना सुख त्याग कर उसके दुखों के निवारण के लिए उद्यत नहीं होता तो उसे अपने पद पर बने रहने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है । वे प्रेम और विवाह को भी अत्यधिक संगत आधुनिक व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं । जटिल मुनि कहते है -'मेरी माताजी ने बताया था कि किसी तरुणी की ओर आकृष्ट होना 'काम' है और उसके लिए अपने को निछावर कर देने की भावना 'प्रेम' कही जाती है । माता जी ने कहा था कि तुम कभी किसी तरुणी की ओर काम भावना से आकृष्ट न होना परन्तु यदि तेरे चित्त में प्रेम का उद्रेक हो तो उसे पाप न समझना । काम आध्यात्मिक विकास का बाधक है जब कि प्रेम उसका उन्नायक है ।'[1]

इस तरह अनामदास का पोथा अद्य - रैवत आख्यान आचार्य द्विवेदी

1.-'अनामदास का पोथा'-आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-174

की आर्ष - वाणी का क्या उद्घोष है । संसार के दुख - दैन्य ने राजपुत्र गौतम को गृहत्यागी विरक्त बनाया था, लेकिन तापस कुमार रैक्व को यही दुख - दैन्य विरक्ति से संसक्ति की ओर प्रवृत्त करते हैं । समाधि उनसे सध नहीं पाती, और वे उद्विग्न की भाँति उठकर कहते हैं, 'माँ, आज समाधी नहीं लग पा रही है । आँखों के सामने केवले भूखे - नंगे बच्चे और कातर दृष्टिवाली माताएँ दिख रही हैं । ऐसा क्यों हो रहा है, माँ ?'[1] और माँ रैक्व को बताती है : 'अकेले में आत्माराम या प्रभाराम होना भी एक प्रकार का स्वार्थ ही है ।'[2] यही वह वाक्य है जो रैक्व की जीवन - धारा बदल देता है और वे समाधि छोड़कर कूद पड़ते हैं जीव संग्राम में ।

अनामदास का पोथा वस्तुतः जिजीविषा की कहानी है । 'जिजीविषा है तो जीवन रहेगा, जीवन रहेगा तो अनन्त सम्भावनाएँ भी रहेंगी । — वे जो बच्चे हैं किसी की टाँग सूख गयी है, किसी का पेट फूल गया है, किस की आँख सूज गई है - ये जी जाएँ तो इनमें बड़े - बड़े ज्ञानी और उद्यमी बनने की सम्भावना है ।'[3] तापस कुमार रैक्व उन्हीं सम्भावनाओं को उजागर करने के लिए व्याकुल हैं और उसके लिए वे विरक्ति की नहीं, प्रवृत्ति का मार्ग अपनाते हैं ।

कथा के माध्यम द्वारा लेखक ने अपनी अन्तर्दृष्टि से तत्कालीन

1- अनामदास का पोथा'- हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ0- 82
2- - वही - पृ0-82
3- - वही - - पृ0- 87

सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के अनुरूप समाज के प्रत्येक स्तर के पात्रों से हमारा परिचय कराया है । पात्रों के चरित्र - चित्रण द्वारा लेखक ने एक नई जीवन दृष्टि का परिचय दिया है और दार्शनिक स्तर पर आकर जीवन, जगत, ब्रह्म, प्रकृति, वायु, प्राण आदि की व्याख्या की है । पात्रों के जीवन में व्याप्त कई प्रकार के कष्टों और कठिन संघर्षों की कथा कहकर लेखक ने शासकीय - त्रास, उत्पीड़न के चित्र भी प्रस्तुत किए हैं ।

अतएव लेखक ने अत्यन्त उच्चस्तरीय मौलिक शिल्प और विशिष्ट भाषा का रूपवादी शिल्प में कतिपय समकालीन और नई जीवन दृष्टियों का समावेश उदात्त एवं रोचक ढंग में किया है ।

अनामदास का पोथा के पात्रों में महाकाव्योचित उदात्तता है और विशेषकर नायक रैवत का सम्पूर्ण परिवेश तपोनिष्ठा, देवसाधना, आस्तिकता, त्याग, आस्था और आन्तरिक सूक्ष्म भावों से परिपूर्ण है - सम्पूर्ण उपन्यास में प्रायः सत्चरित्रों की ही उद्भावना की गई है । उपन्यासकार ने एक विशेष काल - खंड के सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश में गाढ़े ऐतिहासिक सत्य की रक्षा करते हुए अपने चरित्रों को अन्त तक निखारा है । प्रायः सभी प्रमुख पात्रों रैवत, जाबाला, जानश्रुति उद्दुम्बरायण, कृतम्भरा, अजुका में उदात्त भावों का सन्निवेश किया है । जाबाला के चरित्र - चित्रण में लेखक ने अपनी सम्पूर्ण भावात्मकता को झोंक दिया है ।

'अनामदास का पोथा' का नायक रैवत मनी, गुणी, तप के साथ - साथ प्रेम - पीड़ा तथा दीन दुखियों के प्रति दया की भावना दिखा कर लेखक ने रैवत के चरित्र को उभारा है । शासकीय नृशंसता को दिखाकर

लेखक ने रैव व की उदारता, हार्दिक प्रेम एवं जनता के प्रति स्नेह की भावना को अत्यन्त आकर्षिक ढंग से चित्रित किया है । इसी प्रकार से जाबाला का चरित्र - चित्रण अत्यन्त उदात्त एवं रमणीय रूप में चित्रित हुआ है । जाबाला के हृदय में परम पुनीत प्रेम की सृष्टि करके लेखक ने एक आदर्श नारी की अपार महिमा एवं गरिमा का महान् रूप प्रस्तुत किया है । अत्यन्त रहस्यात्मक ढंग से उसके हृदय में प्रेम की हिलोरें उठाकर लेखक ने प्रेम की स्वाभाविकता एवं सहजता का परिचय दिया है । उसके हृदय में दीन दुखियों के प्रति सेवा करने की तत्परता को दिखाया गया है । इसी तरह से वह रैक्व के हृदय में उद्वेलन बनकर उमड़ती है । - वास्तव में लेखक ने इस उपन्यास में पात्रों के चरित्र चित्रण के द्वारा स्वच्छन्दतावादी दृष्टि अपनाई है । और नायक नायिका सम्बन्धी दृष्टिकोण में परिवर्तन लाया है । नायक - नायिका का पारस्परिक रहस्यमय आकर्षण एक तरह से मध्यकालीन रोमैन्टिकतापरक दृष्टि का ही सूचक है ।

उपनिषद् कालीन धर्मसाधना से प्रेरित इस उपन्यास के पात्र निरूपण में लेखक ने आदर्शवादी दृष्टिकोण को अपनाया है । द्विवेदी जी के पात्रों के सात्विक प्रेम का अन्त आत्मदान में होता है । यह आत्मदान द्विवेदी जी के अनुसार सबसे बड़ा तप है । 'अनामदास का पोथा' में कवि औपमन्यव कहते हैं :-' सर्वत्र आत्मानुभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण है दूसरों के सुख के लिए अपने आप को दलित द्राक्षा की तरह निचोड़ कर दे देना । इससे बड़ा तप मुझे मालूम नहीं है ।'[1] उदात्त और महान् चरित्रों का सृजन करने में द्विवेदी जी ने कमाल हासिल किया है । उनके उपन्यासों के

1- अनामदास का पोथा' हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-59

अधिकांश पात्र विद्वान योद्धा, कला - मर्मज्ञ और दुखीजन के लिए सर मिटने वाले होते हैं । उनमें त्याग, बलिदान और प्रेम की एक अन्तर्धारा प्रवाहित होती है । बाणभट्ट, निपुणिका, भट्टिनी, चन्द्रलेखा देवरात, मंजुला, गोपाल आर्यक, चन्द्र, रैवत तथा शुभा आदि चरित्र इसी प्रकार के हैं ।

मनोवैज्ञानिक पद्धति पर पात्रों के अन्तः संघर्ष का लेखक ने यथार्थपरक चित्र प्रस्तुत किया है और यह लेखक की मौलिक विचारधारा है । वे एक उपदेशक के रूप में न आकर पात्रों के वार्तालाप द्वारा अपने अभीष्ट की अभिव्यंजित कराते हैं ।

प्रथम बार जब रैवत और राजकुमारी जाबाला का मिलन होता है तो राजकुमारी बीच में कह उठती है कि क्या रैवत उसके लिए एक काम कर सकता है अर्थात् उसे उसके पिता के घर पहुँचा सकता है । रैवत ऋषि अत्यन्त ही विनीत भाव से कह उठते हैं कि जैसा उसका आदेश हो, उसका पालन करने में उसे हर्ष और गौरव ही प्राप्त होगा । वह उसे अपनी पीठ पर बिठाकर ले जाने का आग्रह करता है । राजकुमारी ने रैवत का यह निन्दनीय प्रस्ताव ठुकरा दिया । रैवत हैरान थे । उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि इसमें लोक निन्दा की क्या बात है । क्योंकि उन्होंने वृद्धा लोगों से सुन रखा था कि आर्त और विपन्न लोगों की सेवा करना धर्म है । राजकुमारी, रैवत के भोले और सरल स्वभाव पर मुग्ध हो गई और हँसकर बोली कि रैवत नहीं जानता कि वह कितनी अनुचित बात कर रहा है । रैवत कुछ भी समझ नहीं पा रहे थे और फिर भी राजकुमारी को पीठ पर आने के लिए आग्रह किया । उन्हें आशा थी कि

वह उनकी पीठ पर आ जाएगी । पीठ में एक अजीब सी सनसनाहट हो रही थी । राजकुमारी हँस रही थी जबकि ऋषि कुमार रैवत निरक्षर हो गए । इसी बीच राजकुमारी रैवत से पूछती है कि उसे देख कर उसको कैसा अनुभव होता है ? रैवत उत्तर देते हैं कि सब कुछ वायु से उत्पन्न होता है, वायु में विलीन हो जाता है । मेरे भीतर, तुम्हारे भीतर और समस्त ब्रह्माण्ड के में वायु ही सब कुछ करा रहा है । मेरे भीतर जो प्राण वायु है, वह तुम्हें देखकर बहुत चंचल हो गया है । तुम्हें दिखाई नहीं देता, पर मेरे भीतर भयंकर आँधी बहकर न जाने मुझे उडाकर कहाँ ले जाए । वह मेरे अन्वर्ती प्राणवायु को तुम्हारे भीतर ठेल कर घुसा देना चाहती है । मेरा प्रपंच चंचल हो उठा है । वायु की इस अद्भुत शक्ति का परिचय रैवत के पहले कभी नहीं हुआ था ।

इसी तरह एक और रोचक घटना घटती है जब राजकुमारी के अनुचार उसे ढूँढते ढूँढते वहाँ पहुँच जाते हैं जहाँ उसका वार्तालाप रैवत से हो रहा होता है । ज्यों ही राजकुमारी के अनुचर उसकी ओर बढ़ते आ रहे होते हैं तो वह रैवत को छिपने का बत कहता है ताकि ये लोग जानने न पाएँ कि हम लोग यहाँ एकान्त में बात कर रहे हैं । ऋषिकुमार रैवत और भी हैरान । 'क्यों, क्या इसमें भी दोष है ?' राजकुमारी ने बल देकर कहा - 'हाँ, है, जल्दी करो ।'

राजकुमारी को लेकर सभी चले जाते हैं । ऋषिकुमार रैवत का मन उदास हो जाता है और वह उसी गाड़ी (रथ) के पास तीन दिन

तीन रात बैठे रहे । उन्हें आशा थी कि कोई न कोई उसे लेने आयेगा राजकुमारी के समाचार मिलेंगे । पर कोई नहीं आया । उन्होंने रथ को खींच कर उस स्थान पर रखा जहाँ राजकुमारी बैठी थी उसी की छाया में बैठकर चिन्तन करने लगे । पर पीठ की सनसनाहट बनी रही वे प्रायः पीठ खुजलाते रहते ।

राजकुमारी जाबाला रैक्व को एक बार फिर देखना चाहती थी इस हेतु उसने माँ ऋतम्भरा से पूछा कि वह कहाँ है ? माँ ऋतम्भरा ने उत्तर दिया : 'वाह, वह तो तुझे ढूँढ रहा है । कहता है, गाड़ी के पास रहूँगा तो शुभा मिल जाएगी । भौलेराम का विश्वास है कि शुभा उस गाड़ी के पास ही कहीं चक्कर काट रही है । गए होंगे, गाड़ी के पास ही । पर जानती है । अब, वह गाड़ी पर सागपात लादकर गाँव के दीन - दुखियों की सेवा करना चाहता है । कहता है, सच्चा आत्मज्ञान यही है । तू अगर दिख गई तो तुझे भी गाड़ी में जोत देगा । माँ ऋतम्भरा ने रैक्व को बताया कि गाड़ी तो उसकी नहीं, शुभा की है । इस पर उसने कहा कि जो चीज़ शुभा की है वह मेरी भी है ।

इसी तरह के कई रोचक प्रसंग उनके इस उपन्यास में आए हैं जहाँ पर मनोवैज्ञानिक धरातल पर आकर लेखक ने पात्रों के द्वारा अन्तर्मन की बात को एक नवीन ढंग से प्रस्तुत करने में तनिक भी संकोच नहीं किया है । लेखक ने राजकुमारी द्वारा यह कहलवाने का प्रयत्न किया है कि समाज में रहते हुए प्रत्येक व्यक्ति को लोक निन्दा से सदैव डर कर ही रहना पड़ता है और विशेष रूप से नारी को जो कहने मात्र तक ही स्वतन्त्र है पर

वास्तव में देखा जाए उसकी स्वतन्त्रा पर समाज ने कड़ी नज़र बांध रखी है । कहाँ रैवव मुनि जो एक महान तपस्वी है और कहाँ राजकुमारी जाबाला जो एक राजकुमारी है । लेकिन लेखक ने अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा इस सत्य को देखना करनी चाही है कि एक नारी के प्रति पुरुष का आकर्षण और पुरुषक का नारी के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है जिससे झुठलाया नहीं जा सकता । साथ ही साथ इस बात की ओर संकेत किया है कि एक ओर तपस्वी या सन्यासी व्यक्ति के अन्दर भी सांसारिक बातों के प्रति आसक्ति होती है लेकिन वह अपने आप पर नियन्त्रण करके अपनी इच्छाओं को दबाता रहता है और वह किसी न किसी एक समय भी तपस्या के मार्ग से विचलित हो सकता है और सांसारिक गठ - बन्धनों से जुड कर एक नए जीवन में अग्रसर होता है । वैसा यह तब होता है जब कि व्यक्ति आरम्भ से विरक्ति न रहे तब उसे अवश्य ही एक न एक दिन संसार में आना पड़ता है । संसार के खेल - तमाशों में रहकर जब इन्सान समझ लेता है कि संसार नश्वर है तब वह आत्मा परमात्मा सम्बन्धी आध्यात्मिक बातों पर विचार करके विरक्ति का रास्ता अपनाने में सफलता पा सकता है जिसे फिर कोई भी संसार की ताकत नहीं हिला सकती ।

रैवव ऋषि जो कि आरम्भ से ही तपस्या में लीन रहते थे, तपस्या का सही अर्थ समझने में समर्थ हो चुके थे गाड़ा बनाकर ही सच्ची तपस्या की जा सकती है । इस तरह द्विवेदी जी ने ज्ञान मार्ग की अपेक्षा कर्म - मार्ग पर चलने के लिए अधिक बल दिया है । कर्म - मार्ग ही एक ऐसा प्रशस्त मार्ग है जिस पर आगे चलकर इन्सान सही अर्थों में तप की

परिभाषा को आसानी से समझ सकता है ।

'अनामदास का पोथा' उपन्यास औपनिषदिक वातावरण पर आधारित है । यहाँ द्विवेदी जी की कल्पना शक्ति का परिचय मिलता है जिन्होंने उपनिषद् कालीन वातवरण को एक नवीन रूप में प्रस्तुत किया । वह यह वह समय था जब देश का अधिकांश भाग घने जंगलों से घिरा हुआ था और ऋषि तपस्वी लोग अपने तपस्या आदि के लिए जंगलों में जीवन व्यतीत करते थे कुछ तपस्वी तपश्चर्या में लीन रहते थे जबकि कुछ अध्ययन - अध्यापन के कार्य में संलग्न रहते थे । उनके यहाँ जिज्ञासु विद्यार्थियों की उपस्थिति बराबर बनी रहती थी । ये ऋषि कहलाते थे । वे गृहस्थ रूप में रहते थे । कुछ गायें पालते थे और किसी के यहाँ बकरियाँ पाली जाती थी इनके दूध से जो घी बनता था वह यज्ञ - याग एवम् हवन आदि में काम लाया जाता था । दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन की पद्धति प्रचलित थी । अधिकांश समय चिन्तन मनन में ऋषि बड़े रहते थे। देवता गण सत्य की ही उपासना करते रहते थे । उनमें सोचने समझने की प्रवृत्ति बराबर बनी रहती थी । ऋषियों के आसन भी हुआ करते थे । जंगल में जो कुछ मिल जाए उससे अपना पेट भरते थे ।

इस देश में अनेक बड़े - बड़े ऋषि मुनि हुए हैं । उनके मनन एवं चिन्तन से आज भी हम प्रभावित हैं और प्रेरणा ग्रहण करते आये हैं । इसी समय में ऐसे ही एक रैक्व ऋषि हुए जिनकी चर्चा उपनिषद् में आती है । जितना कुछ मालूम है उससे यही लगता है कि वे एक रथ के नीचे बैठकर अपनी पीठ खुजला रहे थे । उसी समय राजा जानश्रुति तत्व ज्ञान

की भिक्षा मांगने पहुँचे थे। कोई नहीं जानता था कि रैक्व रथ की छाया में ही क्यों बैठे थे। अनुमान किया गया है कि शायद वे स्वयं रथ बनाने या चलाने का कारोबार करते हों या कुछ ऐसा भी हो सकता है कि जिस प्रसंग की चर्चा उपनिषद् में मिलती है उस अवसर पर संयोग ही कुछ ऐसा था कि रथ की छाया में आ बैठे। पर दोनों अनुमान असंगत लगते हैं क्योंकि वे रथ चालक नहीं थे, शुद्ध तत्व चिन्तक थे। संयोग की बात भी ठीक नहीं लगती है। पहली बार जब राजा का दूत उनका पता लगाने गया तब भी वे रथ की छाया में बैठे - बैठे पीठ खुजला रहे थे और दूसरी बार जब राजा उपस्थित हुआ तब भी वही हाल था तथा तीसरी बार भी यही दशा थी। कुछ अनुमान से कहा जा सकता है कि छाया की अपेक्षा उन्हें रथ से ही प्रेम था। और यथा सम्भव अपने रथ से दूर नहीं रहना चाहते थे। लेकिन इससे भी कठिन सवाल यह है कि वे अपनी पीठ क्यों खुजला रहे थे? एक कारण तो यह भी हो सकता है कि उन्हें नहाने की आदत न [illegible] हो और शरीर में मैल बैठ गई हो। परन्तु ऋषि मुनियों के बारे में यह बात कैसे कही जा सकती है। भारत वर्ष के पुराने साहित्य से इतना तो पता चल ही जाता है कि ऋषि मुनि और चाहे कुछ न करते हों, सुबह - सुबह स्नान तो जरूर कर लेते थे। हो सकता है और इसी को छान्दोग्य में भी ठीक समझा गया है कि बराबर शरीर के भीगे रहने पर रैक्व मुनि को थोड़ी बहुत दाद की बरमारी हो गई हो। हालांकि ऋषियों के बीमार होने का बहुत कम ही खबर मिलती है। कहते हैं, दाद की बीमारी सभ्यता की देन है। लोग ज्यादा कपड़ा पहनने लगे और दाद की बीमारी आ धमकी। रैक्व

मुनि को दाद नहीं होगा । हो सकता है कि शरीर खुजलाने की उनकी आदत हो । ऋषि लोग अपने आप पर नियन्त्रण कर लेते हैं । खुजली होती भी थी तो उसे खुजलाने की आवश्यकता नहीं होती थी । पर रैक्व मुनि खुजला रहे थे कुछ हरकतें मनुष्य जान बूझ कर नहीं करता, किसी प्रयोजन से भी नहीं करता, वे उसकी लत होती है । हो सकता है कि रैक्व मुनि भी किसी प्रयोजन से नहीं आदतन ऐसा किया करते थे । जो भी हो, उनकी खुजली का उल्लेख उपनिषदों में मिल जाता है । वे गाड़ी की छाया में बैठकर शरीर खुजला रहे थे ।

ऐसी ही अवस्था में राजा जानश्रुति उनकी सेवा में उपस्थित हुए थे लगता है ऊँची जाति के आदमी नहीं थे । ज्ञान की खोज में न जाने उन्होंने किन - किन लोगों से बात की होगी, इसका कोई विवरण हमें प्राप्त नहीं है । हम इतना जानते हैं कि वे ज्ञान - प्राप्ति के लिए रैक्व मुनि के पास अवश्य पहुँचे और रैक्व मुनि शरीर खुजला रहे थे गाड़ी के नीचे बैठकर । राजा के आने पर कुछ न कुछ सम्मान करना चाहिए पर लगता है रैक्व मुनि पर उसके आगमन का कोई असर नहीं हुआ ।

राजा जानश्रुति कहीं जंगल में भ्रमण कर रहे थे । खोजी तो वे थे ही, कुछ खोजने के लिए निकल पड़े होंगे । रास्ते में उन्हें हंसों का जोड़ा मिल गया । राजा लोग शिकार के शौकीन होते हैं । वे चाहते तो आसानी से इन हंसों को मारकर घर ले आ सकते थे । परन्तु उन्होंने हंसों का शिकार नहीं किया । चुपचाप खड़े होकर उनकी बातें सुनते रहे और समझ गए कि वे क्या बातें कर रहे हैं । हंसों के कहने का तात्पर्य

अवश्य यह था कि छोटे - छोटे आदमियों ` जितने भी धर्म - कर्म, ज्ञान और पुण्य है वे सर्वत्रयी रैक्व के पास पहुँच जाते है । राजा की अक्ल आश्चर्य से फैल गई । कौन है यह रैक्व ? जो इतना प्रभावी है कि सब लोगों के तप, स्वाध्याय, मनन- चिन्तन आदि उसके पास पहुँच जाते हैं । वह कोई महान तत्वदर्शी होगा । जिसकी प्रशंसा हंस भी करे वह जरूर बड़ा तत्वज्ञानी होगा ।

अथ ह हंसा निशायामतिपेतुस्त
द्वैव हंसो हंसं सो हंसं समभ्युवाद हो
होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः
पौत्रायणस्य सम्प दिवा ज्योतिरातत
तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ॥[1]

राजा जानश्रुति ने अपने चरों को चारों ओर भिजवा दिया । खोज का काम आरम्भ हुआ । अन्त में आकर एक ने खबर दी कि रैक्व कोई दूर नहीं, पास ही किसी रथ के नीचे बैठकर शरीर खुजलाते रहते हैं । सन्धान पाते ही राजा बहुत सा उपहार लेकर उस रथ के पास पहुँचे जिसकी छाया में बैठे परम तत्वज्ञानी रैक्व मुनि शरीर खुजला

(1) छान्दोग्य उपनिषद : (भाग 3) पृष्ठ 258

रहे थे । उन्हें देखकर राजा को आश्चर्य हुआ ।

उपनिषद् की गवाही से इतना पता चलता है कि रैक्व मुनि ने शूद्र राजा को उपदेश ि देना अस्वीकार किया । अन्न और सोने का उपहार भी लौटा दिए । राजा से जानना चाहा था कि वे किस देवता की उपासना करते हैं । परन्तु रैक्व तो फक्कड़ आदमी है । उन्होंने कहा कि उन्हें राजा के गोवंश हार और रथ से कोई मतलब नहीं है । बेचारे जानश्रुति लौट आए ।

उपनिषद् में कुछ विशेष रूप से यह नहीं बताया गया है कि इसके बाद क्या हुआ । केवल कहानी का अन्तिम अंश इस प्रकार बताता है कि वे दूसरी बार ऋषि के पास गोवंश, हार और रथ तो ले गए साथ ही अपनी सुन्दर कन्या को भी ले गए । फक्कड़ ऋषि अब जाकर प्रसन्न हुए और जानश्रुति की सुन्दर कन्या का मुख अपनी ओर उठाकर बोले कि हे शूद्र, इस सुन्दर मुख के कारण तुम मुझे बोलने को बाध्य कर रहे हो ।

तस्या ह मुखमुपोद गृह्यन्नुवाचाजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास तस्मै होवाच ॥[1]

---

(1) छान्दोग्य उपनिषद् (भाग 3) पृष्ठ 267

सो बाध्य होकर उन्होंने अपना उपदेश जानश्रुति को सुनाया । उपदेश बड़ा संक्षिप्त था । उन्होंने बताया कि वायु में ही समस्त वस्तु - जगत विलीन हो जाता है । रैक्व मुनि ने यह नहीं बताया कि समस्त जगत केवल वायु में ही विलीन होता है या उत्पन्न भी होता है । इस तत्व - ज्ञान को प्राप्त करने के लिए जानश्रुति को बीच में क्या - क्या प्रयास करने पड़े और अन्त में उन्हें अपनी कन्या को लेकर क्यों जाना पड़ा, और सारी घटना का शरीर के खुजलाने से क्या सम्बन्ध है, यह अभी तक मालूम नहीं था । ठीक - ठीक मालूम अब भी नहीं है परन्तु जितना कुछ मालूम हुआ है वह मनोरंजक अवश्य है ।

भाषा पर द्विवेदी जी का जबरदस्त अधिकार है । संस्कृत का पांडित्य उनके उपन्यासों पर छाया रहता है । अपने वर्णन - कौशल के लिए द्विवेदी जी विख्यात हैं । 'पुनर्नवा' में भी उनकी अद्भुत वर्णन क्षमता देखी जा सकती है चाहे वह किसी प्राकृतिक दृश्य का वर्णन हो या मुंजुला के भाव विभोर नृत्य का । द्विवेदी जी अत्यन्त भावुक और मनोहारी करते हैं । पर ऐसे वर्णन उस स्थलों पर अस्वाभाविक हो जाते हैं जहाँ उपन्यासकार परिस्थितियों का ध्यान नहीं रखता । उनके सभी उपन्यासों में इतिहास महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है उनका अभिनव सन्देश । बीच - बीच में देव - दर्शन, स्वप्न - दर्शन तथा सिद्धियों आदि के चमत्कार भी द्विवेदी जी के उपन्यासों में आते हैं जो उपन्यास की पृष्ठ भूमि और ऐतिहासिकता को देखते हुए अस्वाभाविक नहीं लगते । द्विवेदी जी ऐसे चमत्कारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके उन्हें विश्वसनीय बनाने की भी चेष्टा करते हैं । उनके उपन्यासों में भावुक रोमांटिक दृष्टि भी कम नहीं है । उनकी भाषा में एक उछाह और उल्लास दिखाई पड़ता है । वह भीतर

की अपेक्षा बाहर की ओर अधिक भागती है ।

द्विवेदी जी के उपन्यासों का यदि भाषा - शैली की दृष्टि से मूल्यांकन किया जाए तो यह विदित होता है कि वे इन दोनों क्षेत्रों में अपना एक अलग - स्थान रखते हैं । उनके उपन्यासों की भाषा कथानक के अनुरूप दिखाई देती है और वह कथ्य के वातावरण के अनुरूप ढलती जाती है । 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भाषा में संस्कृत - निष्ठता है तो 'पुनर्नवा' की भाषा सरल और बोधगम्य है । आपकी औपन्यासिक भाषा काव्यात्मक तथा प्रवाहमयी है । बीच - बीच में वे कठिन शब्दों को स्पष्ट करने के लिए कोष्ठक में उनके सामान्य अर्थ भी दे देते हैं । द्विवेदी जी के उपन्यासों का अध्ययन करने पर उनकी भाषा के यह प्रमुख गुण दृष्टिगत होते हैं -- - काव्यात्मकता, अलंकारिकता, प्रवाहमयता, प्रभावानुकूलता आदि । कहीं कहीं नए शब्दों का ऐसा जाल बिछा देते हैं कि पाठक उसमें उलझ कर छटपटाने लगता है, किन्तु वे शीघ्र ही उनकी व्युत्पत्ति को वर्णन कर पाठकों की उलझनों के बन्धन को ढीला कर देते हैं ।

शैली की दृष्टि से इनके उपन्यासों में एकरूपता नहीं मिलती । 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' जहाँ आत्मकथात्मक शैली में लिखे गये हैं वहीं पुनर्नवा और 'अनामदास का पोथा' कृतियों की सर्जना इतिवृत्तात्मक शैली में की गई है । इतिवृत्तात्मकता शैली में प्रधान होने के कारण ही अन्तिम दो उपन्यासों में वस्तु निष्ठता अधिक है और उनमें घटनाओं तथा वर्णित पात्रों की सुन्दर योजना भी दिखाई देती है । इनके उपन्यासों की शैली में समास और व्यास दोनों शैलियों का

सुन्दर समन्वय है । शैली के अन्य गुणों में सरसता, प्रवाहमयता तथा रोचकता आदि का प्राधान्य दिखाई देता है । हास्य - व्यंग्य की सुन्दर तथा प्रभावशाली योजना करने में द्विवेदी जी का स्थान अद्वितीय है ।

विषय के चुनाव और उसके प्रस्तुतीकरण में द्विवेदी जी अपना सानी नहीं रखते । उदाहरण के लिए 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में उन्होंने बाणभट्ट द्वारा [illegible] विरचित 'हर्ष चरित' तथा 'कादम्बरी' को आधार बनाकर अनेक काल्पनिक पात्रों की सृष्टि करके अपनी कृति को पूर्ण किया है । 'चारुचन्द्रलेख' में वातावरण की सृष्टि के लिए उन्होंने 'वसिष्ठ तन्त्र' का आधार ग्रहण किया है । इस ग्रन्थ में सुन्दरी साधना का सारा चित्र वर्णित है । 'पुनर्नवा' में 'लोरिकचन्दा' और 'मृच्छकटिक' की कथा का ऐसा घोल तैयार किया गया है जिसका विश्लेषण बड़े से बड़ा आलोचक भी नहीं कर पाता । वास्तव में उनकी औपन्यासिक कृतियों के लोकोत्तर होने का रहस्य आचार्य द्विवेदी को उस महाभाव साधना से सीधा सम्बन्ध रखता है । इसलिए वहाँ अभिजात्य से अन्त्यज तक की सारी परिधि एक निश्चित व्यावहारिक वैचारिक एवं भावात्मक लोक - सीमा से ऊपर होकर बही है । विशिष्ट वहाँ इसलिए सर्वमान्य समर्थित तथ्य के रूप में आकार पा सका है क्योंकि समग्र सामान्य के वैशिष्ट्य की वही चरम - सीमा है । अतएव वहाँ व्यवहार उदात्त, विचार उदार एवं भाव वासना-शून्य स्तर पर पहुँच कर पल्लवित हुए हैं । इसका यह अर्थ नहीं कि वहाँ रचनाकार वर्तमान की उपेक्षा या अतीत के पक्षपात या अनागत की आदर्श एवं काल्पनिक आकृति गढ़ता है अपितु वहाँ है वर्तमान अतीत एवं अनागत में समान रूप से ग्राह्य एवं सहजता । वास्तव में मानवीय - चेतना का

सहज स्वरूप द्विवेदी जी की कृतियों में मिलता है ।

व्यावहारिक स्तर पर उनकी सहजता प्रत्येक कृति की प्रत्येक घटना वली एवं पात्रों में उनके अनुरूप पाई है जो अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी अन्य की अपेक्षा न रहकर स्वयं में समाहित सत्य एवं तथ्य से आलुप्त होती हैं । चाहे बाण हो या भट्टिनी या निपुणिका, वास देवव्रत हो या मृणाल, समुद्रगुप्त इत्यादि ।

आचार्य द्विवेदी का सांस्कृतिक व्यक्तित्व ही उनकी शैली बन गया है । मध्य युग के सन्त कवियों की जैसी सरलता और सजीवता उनकी शैली का आकर्षण है । उनकी सम्पन्न सांस्कृतिकता और वैचारिक गम्भीरता का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हमें उनकी 'कबीर' शीर्षक रचना में मिलेगा । धर्म, अध्यात्म, इतिहास, संस्कृति आचार्य द्विवेदी के प्रिय विषय हैं और इनके सन्दर्भ में वे साहित्य को बराबर पुष्ट करते चलते हैं । विषय के अनुरूप उनकी भाषा शैली रहती है । उनकी भाषा शैली की अत्यन्त महत्व पूर्ण झांकिमा हमें उपन्यासों में मिलेगी । यहाँ वे सांस्कृतिक विचारक ही नहीं हैं, स्वतन्त्र स्रष्टा भी हैं । उदाहरण के लिए 'चारुचन्द्रलेख (1963) से उद्धृत ये पंक्तियाँ यह सिद्ध कर सकती हैं कि आचार्य द्विवेदी ताम्बूल जैसी छोटी सी वस्तु को लेकर तन्त्र में उसके उपयोग की बात कहकर किस चातुर्य और पाण्डित्य से उसे शैवचक्र का प्रतीक बना देते हैं । उनकी वाणी में प्राचीन भारत असंदिग्ध रूप से बोल उठता है । उनकी भाषा - शैली में जहाँ एक ओर अध्यापक की सुस्पष्टता है, वहाँ दूसरी ओर आदर्शवादी और भावुक प्राण कलाकार की सजीवता है । वे छोटे छोटे

वाक्यों का प्रयोग करते हैं, विशेष रूप से जहाँ उन्हें साहित्य के स्वरूपों अथवा सिद्धान्तों की व्याख्या करनी होती है । उन्होंने भारतीय संस्कृति और इतिहास का विश्लेषण अपनी लेखनी चलाकर प्रस्तुत किया है और वर्षों भर अध्यापक के रूप में शान्ति निकेतन में महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर के सम्पर्क में रहे हैं ।

द्विवेदी जी स्पष्ट रूप से यह कहते हैं कि 'उपन्यास नाम को जो विधा है उसमें मैं नहीं लिख रहा हूँ ।' द्विवेदी जी ने उपन्यास के ढाँचे को किसी नए प्रयोग के लिए नहीं तोड़ा है । 'फार्म' को कथ्य के रूप में बदलते गए ।

द्विवेदी जी के शब्दों में :-

'मुझे ऐसे अनेक मित्रों से जिनकी सच्चाई के बारे में मुझे पूरा विश्वास है, सुनने को मिला है कि उन्होंने अपनी संकल्प शक्ति से और योजना बद्ध तरीके से भिन्न - भिन्न कार्य सिद्ध किये हैं । मैं नहीं कर सका हूँ । शुरू से अन्त तक जीवन में जो कुछ करना चाहा वह नहीं कर सका और जिसकी बिल्कुल आकांक्षा नहीं थी, वह हो गया । बनने चला था ज्योतिषी, बन गया लेखक । जो लिखना चाहा था वह नहीं लिखा, अप्रत्याशित रूप से कुछ ऐसा लिखा गया जिसकी कल्पना भी मन में नहीं थी । इसलिए योजनाबद्ध ढंग से कोई काम नहीं कर पाया।।'।'

उनकी भाषा सम्बन्धी कुछ नमूने यूँ पेश किए जा रहे हैं :-

'पवन प्रसरित होता है, विद्युत गिरती है, ओषधियाँ अंकुरित होती हैं, स्वर्ग उमड़ पड़ता है । पर्जन्य जब - जब पृथ्वी में बीजारोपण करते हैं तो

सारे जगत में प्रवृत्ति का जन्म होता है ।'[1]

'जिसके व्रत से पृथ्वी नत होती है, सुर वाले प्राणि उत्साहित होते हैं, ओषधियाँ विभिन्न रूप धारण करती है, वही पर्जन्य हमें परम कल्याण वितरण करे ।'[2]

इस तरह उनकी भाषा शैली के उपर्युक्त उदाहरणों से भी स्पष्ट है कि वे सरल सहज ढंग से अपनी बात की अभिव्यंजना करने में सफल हुए है ।

द्विवेदी जी के समस्त उपन्यास उद्देश्यपरक हैं और उनमें 'अनाम दास का पोथा' का उद्देश्यपरक दृष्टिकोण भी अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है । वे अपनी कथा के आधारभूत तथ्यों का क्रमशः विकास करते चलते हैं और अन्त में आकर अपने उद्देश्य का पुंजीभूत प्रभाव पाठकों पर एकारेक छोड़ देते हैं । उद्देश्य के अन्तर्गत उन्होंने अनेक ज्वलन्त समस्याओं का आकलन किया है ।

प्रस्तुत उपन्यास में रैक्व की जाबाला के प्रति लालसा का चित्रण नारी - पुरुष के युक्त प्रेम को प्रामाणिक करता है । जो रैक्व ऋषि एकान्त वन्य जीवन व्यतीत करते हुए तप में लीन होते हैं लेकिन जब वह भूखे नंगे तथा प्यासे लोगों के दुख को देखता है तो वह अपना एकान्त तप भंग करता है और गाड़ी खींच कर लोगों की सेवा में जुट जाता है । इस प्रकार लेखक ने इस सत्य को दर्शाया है कि निवृत्ति मूलक मार्ग को

1-'अनामदास का पोथा' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0- 129
2- - वही -

अपेक्षा प्रवृत्ति मूलक मार्ग अधिक प्रशस्त और श्रेयस्कर है ।

यह उपन्यास उपनिषद् कालीन पृष्ठभूमि पर आधारित है और इसमें भारतीय संस्कृति का जीवन्त चित्रण प्रस्तुत किया गया है । इस उपन्यास की रचना में उनकी दृष्टि अनुसन्धानात्मक और समीक्षात्मक भी रही है ।

द्विवेदी जी ने इस सत्य की घोषणा की है कि किसी तरुणी की ओर आकृष्ट होना 'काम' है परन्तु उसके लिए अपने आप को निछावर कर देने की भावना 'प्रेम' कही जाती है । उनकी मान्यता है कि यदि किसी के चित्त में इस स्वच्छन्द प्रेम का उद्रेक हो तो वह पाप नहीं है । काम आध्यात्मिक विकास का बाधक है जब कि प्रेम उसका उन्नायक है ।

पुरुष और स्त्री के सम्बन्धों पर विचार प्रकट करते हुए उनका कहना है कि ये सम्बन्ध भी तीन प्रकार के हैं - एक तो काम जन्य सम्बन्ध जो धर्म संगत नहीं होता । दूसरा जो धर्म संगत होता है जिसे शास्त्र में 'विवाह' कहा जाता है । तीसरा है उद्वाह जो ऐसा ही होता है परन्तु पति पत्नी को और पत्नी पति को ऊपर की ओर वहन करते हैं । अर्थात् परस्पर की आध्यात्मिक चेतना को परिष्कृत करते हैं । उनकी मान्यता है कि यदि ऐसी पत्नी मिले जो आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाए तो उससे विवाह नहीं, उद्वाह कर लेना ही उपयुक्त है ।

द्विवेदी जी इस उपन्यास में यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति योग - साधना में सफलता करना चाहे तो उसके लिए ध्यान, धारणा और समाधि तीनों बातों का होना आवश्यक है ।

राजा या उच्चवर्ग के लोगों को किसी के दुःख, शोक से कोई भी वास्ता नहीं होता क्योंकि वे अपनी ऐश्वर्य की ज़िन्दगी में इतने व्यस्त रहते हैं कि वे दुःख की कल्पना तक भी नहीं कर सकते । धनाढ्य व्यक्ति गरीब का गरीबी को क्या पहचान सकता है ।

द्विवेदी जी ने इस उपन्यास के द्वारा यह संकेत दिया है कि विवाह करना शास्त्र - सम्मत है । विवाह में ही स्त्री और पुरुष मनुष्य बनते हैं अन्यथा उनका जीवन व्यर्थ को व्यतीत हो जाएगा ।

द्विवेदी जी ने तप - साधना के साथ - साथ सत्संग को भी अनिवार्य ठहराया है क्योंकि सत्संग के बिना कोई भी साधना पूरी नहीं हो सकती ।

लेखक की मान्यता है कि ईश्वर या ब्रह्म की सत्ता माने बिना भी धर्म का आचरण किया जा सकता है । उनका कहना है कि जो अपने आप की सुख सुविधा का ध्यान न रखकर दूसरों के दुःख को दूर करने में लीन हो जाता है वही वास्तव में धार्मिक है ।

द्विवेदी जी की कहना है कि आजकल लोग मूल तत्व की खोज में पागल से हो रहे हैं । वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे जान पड़ते हैं कि शरीर प्राण, मन, बुद्धि - सभी नष्ट हो जाने वाले तत्व हैं । सच्चा तत्व जिससे सारा जगत उत्पन्न हुआ है, जिसके बल पर सब कुछ जी रहा है और अन्त में सब को जिसमें विलान हो जाना है वही ब्रह्म है, वही शरीर में आत्मा है । उसे देखा नहीं जा सकता, पकड़ा नहीं जा सकता । संसार नश्वर है, आत्मा अमर है ऐसी उनकी धारणा इस उपन्यास में उद्धृत है ।

द्विवेदी जी ने मनुष्य के आचरण पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि

कि मनुष्य का आचरण उसके संकल्प से ही स्थिर होता है । मनुष्य जैसी कामना करता है वैसा ही उसका संकल्प बन जाता है । जैसा उसका संकल्प होगा वैसा ही वह कर्म करेगा और जैसा उसका कर्म होगा वैसा ही वह फल प्राप्त करेगा । यह कामना और संकल्प तो मन में ही उत्पन्न होते हैं । कर्म तो इन्द्रियों द्वारा ही निष्पन्न होता है । कामना रूपी नदी पुण्य और पाप के दो किनारों के बीच प्रवाहित होती है, अपने संकल्प या दृढ़ निश्चय के द्वारा हमें इसे पुण्य के अनुकूल करना होता है इसलिए मन की उपेक्षा नहीं कर सकते ।

पाप और पुण्य के सम्बन्ध में उनकी धारणा है कि जिस कार्य से किसी को शारीरिक या मानसिक कष्ट पहुँचे वही पाप है । पर जिससे किसी का दुःख दूर हो, रोगी निरोग हो जाए, भूख अन्न पाये, प्यासा जल पावे, कमज़ोर आश्वासन पावे वे सब पुण्य कर्म हैं ।

मनुष्य के 'स्वभाव'के बारे में उनकी यह धारणा है कि हर मनुष्य का अपना अपना स्वभाव होता है । पर है सभी परम वैश्वानर की अभिव्यक्ति । जिसे जो चीज़ प्रिय लगती है वह उसके स्वभाव की प्रवृत्ति बन जाती है । संसार चक्र में पड़े मनुष्य नाना कारणों से 'स्वभाव' को या तो पहचान ही नहीं पाते या पहचान कर भी उसकी उपेक्षा करते हैं । ध्यान तो प्रिय वस्तु का किया जाता है इस हेतु सारे चिन्तन मनन को, क्रिया कर्म को एक ओर ठेलकर वही प्रिय रूप मन में आ जाता है । मनुष्य की शक्ति केवल इतनी ही है कि वह प्रिय को देवता कोई बना लेता है या फिर देवता को प्रिय बना लेता है ।

'अनामदास का पोथा' का मूल स्वर मानववाद की स्थापना करना है इस में व्यक्ति-व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व तथा व्यक्ति तथा समाज का अन्तः संघर्ष एवं राजा और प्रजा का बाहिर द्वन्द्व देखने को मिलता है। अज्ञानी व्यक्ति ज्ञान की खोज में इधर उधर भटकता है और ज्ञानी ज्ञान के स्थान पर कर्म को सर्वोपरि मानता है। स्वच्छन्द प्रेम की कल्पना को इसमें महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। भारतीय आदर्शवादी प्रेम को राष्ट्रीय धरातल पर लाकर रख दिया गया है। इसमें संसार की नश्वरता की बात कही गई है और आत्मा, ब्रह्म ज्ञान सम्बन्धी बातों की ओर भी लेखक का ध्यान गया है। तप और त्याग से अधिक महत्वपूर्ण दुखी पीड़ितों के प्रति सेवा भाव को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। शासक चाहे कितना ही निर्दयी हो, कठोर हो वह प्रजा का शोषण सदैव नहीं कर सकता क्योंकि प्रजा की शक्ति सर्वोपरि होती है और वह एक होकर कभी कभी भी शासक को गिरा सकती है। ये कि एक यथार्थपरक सत्य है। ने इस उपन्यास में इस सत्य और तथ्य की पुष्टि करते हैं कि सब कुछ मारा जा सकता है पर जीने की इच्छा कभी नहीं मरती चाहे कितनी ही कोशिश क्यों न की जाय। यदि मनुष्य संसार में जन्म लेकर आया है लेकिन वह अपनी जिजीविषा पर कोई भी नियन्त्रण नहीं लगा सकता। इसे किसी भी हत्यार से न काटा ज सकता है और न ही मारा जा सकता है। यह तीव्र से तीव्रतम बढ़ती ही जाती है जोकि एक परम सत्य है।

इस तरह यह उपन्यास सम्पूर्ण रूप से उद्देश्य परक उपन्यास है जिसमें लेखक ने गम्भीर से गम्भीर प्रश्नों को उठाया है और यथोचित उत्तर भी दिए है।

पंचम अध्याय

क) 'अनामदास का पोथा' को औपनिषदिक आधार ।

ख) 'अनामदास का पोथा' उपन्यास का दार्शनिक विवेचन ।

ग) 'अनामदास का पोथा' प्रेरणा और प्रभाव ।

पंचम अध्याय

क) 'अनामदास का पोथा' का औपनिषदिक आधार :-

आचार्य द्विवेदी बीसवीं शताब्दी के भारतीय साहित्य के इतिहास में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं । उनका उल्लेख केवल हिन्दी - साहित्य के सन्दर्भ में न होकर भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति, साहित्य और इतिहास के पुनर्अन्वेषण के रूप में स्वीकृत किया गया है ।

भारतीय वाङ्मय की तीन प्रमुख धाराओं का संगम इन के साहित्य में प्रवाहगत है । एक ओर से धर्म और दर्शन के दो कूलों के बीच में बहने वाला धारा इनके साहित्य की प्रेरणा है । दूसरी धारा जो इतिहास और विज्ञान को टकराकर आगे प्रवाहित होती है वह इनके साहित्य का प्राण है । तीसरी धारा भाषा और साहित्य के मूलों में बंधी है वह इनकी अभिव्यक्ति का साधन है । मूलतः आचार्य जी एक प्रतिष्ठित एवं सुलझे

हुए विद्वान साहित्यकार हैं और दूसरी ओर से इनके साहित्य का ऐतिहासिक, पौराणिक और औपनिषदिक आधार विशेष रूप से प्रतिष्ठा पा चुका है । इन्होंने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए किन्हीं प्रमुख ऐतिहासिक तथा औपनिषदिक आधारों को लेकर उपन्यास साहित्य को एक नई जीवन दृष्टि प्रदान की है ।

अनामदास का पोथा द्विवेदी जी की एक नवीनतम औपन्यासिक कृति है और स्वयं द्विवेदी जी ने इस सत्य को स्वीकार किया है कि इस उपन्यास की रचना के लिए छान्दोग्य उपनिषद् के अथ रैक्व आख्यान से प्रेरणा प्राप्त की है । मूलतः प्रस्तुत उपन्यास द्विवेदी जी की एक नूतन एवम् मौलिक कृति है जिसमें उपनिषद् कालीन भारतीय संस्कृति और इतिहास का वर्णन किया गया है । वस्तुतः अथ - रैक्व आख्यान तो केवल इस उपन्यास के प्रेरणा और आधार हैं लेकिन औपन्यासिक विचार धारा द्विवेदी जी की बौद्धिक शक्ति का अतुलनीय प्रयास है । कहने का तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत उपन्यास की कथा छान्दोग्य उपनिषद् से गृहीत तो है लेकिन अपने सम्पूर्ण रूप में यह द्विवेदी जी की कल्पना की उपज है । छान्दोग्य उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के प्रथम भाग में रैक्व जानश्रुति से सम्बन्धित कथा अपने मूल रूप में प्रस्तुत उपन्यास में वर्णित है जानश्रुति से सम्बन्धित कथा से भिन्न है परन्तु दार्शनिक दृष्टि से द्विवेदी जी की विवेचना वर्णित उपनिषद् की दार्शनिक विवेचना के अनुकूल ही ही है ।

अतएव छान्दोग्य उपनिषद् के अथ रैक्व - आख्यान से सम्बन्धित कथा में द्विवेदी जी ने कल्पना का समिश्रण किया है और एक नवीन उपलब्धि

हिन्दी साहित्य को भेंट की है ।

अतएव कथा इस प्रकार है :-

एक समय की कथा है कि जानश्रुति पौत्रायन विशेष मान और प्रशंसा के पात्र थे, वे अत्यन्त दयालु राजा थे और अपने व्यक्तिगत गुणों के कारण जनता उनका विशेष सम्मान करती थी । वे जनता को बिना किसी दाम के खाना - पीना देते थे । एक समय की बात है कि रात के समय राजमहल के आसपास कुछ हंस अपनी उडान में व्यस्त थे जबकि एक हंस ने दूसरे हंस से कहा, 'देखो, देखो ।' महाराज जानश्रुति का तेज और प्रताप स्वर्ग के समान चारों ओर से विकीर्ण हुआ है कहीं ऐसा न हो कि तुम इस तेज को छू लोगे, तेरा सारा शरीर जल उठेगा ।' दूसरे हंस ने इसका उत्तर दिया, ' कि तुम किस से राजा के विषय में यह सब कुछ कह रहे हो और ऐसे कह रहे हो जैसे कि वह बैलगाड़ी को लिए हुए । रैक्व है ।' फिर दूसरे हंस ने अत्यन्त जिज्ञासा के साथ अपने मित्र हंस से पूछा कि यह रैक्व कैसा है ?' और आगे कथा इस प्रकार से चलती है - हंस शब्दों में : रैक्व आख्यान में कहा गया है कि रैक्व वह है जिसने कि पूर्णतया त्रेता, द्वापर और कलि को मिला कर कुता पर अपना पूर्ण शासन जमाया है और इसलिए रैक्व अपने सम्पूर्ण ज्ञान का अर्जन कर पूर्ण ज्योति का पुंज बन गया है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि छान्दोग्य उपनिषद् में इस सत्य की स्थापना की गई है कि रैक्व के साधु गुणों को आख्यान सुनकर जानश्रुति के मन में उस ज्योति पुंज को जानने की और पहचानने की अतीव लालसा

उत्पन्न हुई । इसलिए उसने अपने सम्पूर्ण राजकीय वैभव के साथ - साथ अपनी यशोमती कन्या जाबाला को उसके चरणों में अर्पित किया क्योंकि जानश्रुति रैक्व के मुख से कुछ ज्ञान के शब्द सुनना चाहता था ।

इसी प्रकार से बाध्य होकर उन्होंने राजा जानश्रुति को कुछ प्राकृतिक सत्यों के विषय में उपदेश दिए ।

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वतदभिसमैति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स गयैतदुक्त इति ॥[1]

अर्थात् वायु में ही समस्त दृश्यमान जगत का अन्तर्भाव होता है, यहाँ तक कि आग के बुझने पर भी वह आग वायु में ही लीन हो जाती है जैसे कि सूर्य चन्द्र मा जल सभी कुछ वायु में ही अन्ततागत्वा लय होते हैं । यह पदार्थ जगत वायु से ही बना है और वायु में इसका अन्त होता

(1) छान्दोग्य उपनिषद : (भाग 3) पृष्ठ 260

है । यह जड़ और चेतन जगत वायु से ही निर्मित होकर उसी में ही अन्त में समा जाते हैं । और यहाँ पर आकर के औपनिषदिक कथा का अन्त होता है ।

लेखक ने इसके आगे जाबाला और रैक्व के पारस्परिक मिलन के उपरान्त रैक्व के बार - बार पीठ खुजलाने वाली जो कथा दी है वह द्विवेदी जी की एक नयी मौलिक उपज है और जिससे केवल कथा में एक नवीन रोमांस उत्पन्न किया गया है । अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों के समान लेखक ने इस औपनिषदिक आख्यान को प्रेम आख्यान में परिवर्तित कर एक नई औपनिषदिक प्रवृत्ति का प्रचलन किया ।

जहाँ तक उपन्यास में वर्णित दार्शनिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध है उसके लिए आचार्य जी ने न केवल छान्दोग्य उपनिषद् का आधार लिया है अपितु बृहारण्यक उपनिषद् भी उनके लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया है ।

प्रस्तुत उपन्यास में स्थान - स्थान पर इस दार्शनिक सत्य की स्थापना की गई है कि प्राण तथा अन्य शारीरिक एवं आत्मिक शक्तियों का 'रसः' वायु है (प्राणोवा अंगा नाम रसः, प्राणो हि वा अंगाना रसः) और यही वायु बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार समस्त जड़ और चेतन शक्तियों का आधार स्रोत है ।

आचार्य द्विवेदी जी न केवल प्राचीन औपनिषदिक दर्शन से ही प्रेरित हैं अपितु समस्त उपन्यास के अध्ययन करने पर इस सत्य की स्थापना की है

कि उन्होंने अपनी दार्शनिक सूझ बूझ के साथ सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का सम्मिश्रण किया है । उपन्यास में वर्णित जन एवं वन्य जीवन की चर्चा हमारी इस देशीय संस्कृति और सभ्यता का परिचायक है और जाबाला के चरित्र में एक भारतीय आदर्श नारी का जीवन प्रज्ज्वलित हो चुका है ।

ख) अनामदास का पोथा ' उपन्यास का दार्शनिक विवेचन :-

वायु ही सबसे प्रबल तत्व है । वह ब्रह्माण्ड में वायु के रूप में और पिण्ड में प्राण के रूप में क्रियाशील है । ब्रह्माण्ड के चार देवता - अग्नि, सूर्य चन्द्र और जल - वायु के अधीन है और पिंड के चार इन्द्रिय - वाणी, चक्षु, श्रोत और मन - प्राण के अधीन हैं । तपस्या का एक बहुत आवश्यक अंग है सत्संग । जो जिस बात को जानता है उसे पूछते रहने से अपनी एकान्त चिन्ता की त्रुटियाँ दूर होती है ।

हृदयाकाश में जिस आत्मा का निवास है वह पापों से अलग है, जरा और मृत्यु से छूटा हुआ है, भूख और प्यास से परे है, सत्य काम और सत्य संकल्प है - उसी की खोज करनी चाहिए, उसी को जानना चाहिए । जो उस 'आत्मा' को ढूँढ कर जान लेता है, वह सब लोगों को तथा सब कामनाओं को पा लेता है,। सब जब जागृतावस्था में जिसे तुम देखते हो, यह आत्मा है, यह अमृत है, अभय है, यही ब्रह्म है ।

यह शरीर तो मरणधर्मा है, मृत्यु से ग्रसा हुआ है । यह मरणधर्मा शरीर उस अमृत रूप अशरीर आत्मा का अधिष्ठान है, उसके रहने का स्थान है । आत्मा स्वभाव से अशरीर है, परन्तु जब इस शरीर के

साधक अपने को एक समझकर रहता है, तब तक उसे भी सुख - दुख ही लगा रहता है क्योंकि सुख - दुख तो शरीर का धर्म ही है । जब तक शरीर के साथ वह अपनी एकता बनाये रखेगा सुख दुख से नहीं छूट सकेगा । वायु, अग्नि, विद्युत और गर्जना - ये भी तो अशरीर ही हैं, कहाँ है इनका शरीर ? जिस प्रकार ये 'आकाश में रहते हैं पर शरीर न होने के कारण दिखाते नहीं, हाँ, अपने दृश्य - रूप में तब प्रकट होते हैं जब परम ज्योति 'सूर्य' से इनका सम्पर्क होता है । सूर्य की गर्मी पाकर वायु अपने असली रूप को धारण कर बहने लगता है । सूर्य की गर्मी से ही अग्नि प्रकट होता है, विद्युत चमकती है, गर्जना प्रकट होती है । इसी प्रकार आत्मा भी अशरीर है, वह 'शरीर' में रहता है, परन्तु जब उसका भी 'परम ज्योति' ब्रह्म के साथ सम्पर्क हो जाता है तब वह भी अपने असली रूप को धारण कर लेता है ।

जब मनुष्य इस अवस्था को पहुँच जाता है - शरीर में रहता हुआ भी अपने को अशरीरी अनुभव करने लगता है - तब वह खाता हुआ, खेलता हुआ, रमता हुआ, सैर करता हुआ, इस प्रकार विचरता है जैसे यह शरीर यह बन्धु - बान्धव, या आस पास के लोग उसे कुछ याद ही नहीं । वह संसार के जो काम करता है ऐसे करता है जैसे शरीर के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं । परम ज्योति के सम्पर्क में आने के कारण वह अपने को शरीर से अलग देखता है । वह ऐसा स्पष्ट देख लेता है जैसे रथ के साथ घोड़ा जुता हुआ है वैसे ही उसका प्राण, उसका आत्मा इस शरीर रूपी रथ के साथ जुता हुआ है, वह स्वयं शरीर नहीं है, न शरीर तथा आत्मा का कोई मूलगत सम्बन्ध है । आकाश में जहाँ भी आँख जड़ी

हुई है वही 'चाक्षुष पुरुष' वह आत्मा, बैठा है और इस विशाल जगत को मानो अरोसी में आंक रहा है । आँख क्या है ? यह कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, उसी के देखने का साधन है-जो देख रहा है, वही आत्मा है नासिका गन्ध ग्रहण करने के लिए है - यह साधन है, जो गन्ध ग्रहण करता है, वही आत्मा है । कान सुनने के लिए है, यह साधन है, जो सुनता है वही आत्मा है ।

मन क्या है ?

मन आत्मा का दैव - चक्षु है, दिव्य नेत्र है । इससे आगे पीछे, भूत - भविष्यति सब देखता है । इसी दिव्य चक्षु द्वारा मन में ही रमण करता है, परन्तु यह भी आत्मा का साधन है, जो मन के द्वारा मनन करता है वही आत्मा है । जो देवगण इस संसार के साथ अधिक सम्पर्क न रखकर ब्रह्म लोक में विचरण करते हैं, ब्रह्म ज्ञान में विलान रहते हैं वे इसी आत्मा की उपासना किया करते हैं । इसलिए सब लोक और सब कामनाएँ उन के वश में रहती है । जो उस आत्मा को ढूढकर जान लेता है वह सब लोकों और सब कामनाओं को प्राप्त कर लेता है ।

एकान्त का तप बड़ा तप नहीं होता । संसार में कितना कष्ट है, रोग है, शोक है, दरिद्रता है, कुसंस्कार है लोग दुख से व्याकुल हैं । उनमें जाना चाहिए । उनके दुख का भागी बनकर उनका कष्ट दूर करने का प्रयत्न करो । यह वास्तविक तप है ।

सज्जनों का संग, सद्ग्रन्थों का अध्ययन, सत्य पर दृढ़ आस्था और दुखी जनों की सेवा ही परम धर्म है । चार पुरुषार्थ हैं :- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । इनमें पहले तीन साधन हैं, अन्तिम साध्य है । पहले

तीन में धर्म सबसे बड़ा है । उनके अनुकूल रहकर अर्थ का उपार्जन करना चाहिए । अर्थ प्रधान नहीं है - धर्म का अविरोधी रह कर ही पुरुषार्थ है । धर्म के विरुद्ध जाने पर त्याज्य है काम, धर्म और अर्थ का अविरोधी रहकर ही पुरुषार्थ कहलाता है । धर्म और अर्थ के विरुद्ध जाने पर वह आचरणीय नहीं रहता ।

पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए कुलीन जन विवाह किया करते हैं । विवाह के माध्यम से ही पुरुष और स्त्री पूर्णता प्राप्त करते हैं, संसार के सबसे बड़े लक्ष्य प्रेम को प्राप्त करते हैं ।

पाप और पुण्य :-

जिस कार्य से किसी को शारीरिक या मानसिक कष्ट होता है वह पाप कार्य है । पर जिस से किसी का दुख दूर हो, उसका इहलोक और परलोक सुधर जाये, रोगी निरोग हो जाए, दुखिया सुखी हो जाये, भूखा अन्न पाये, प्यासा जल पाये, कमज़ोर लोग आश्वासन पायें, वे सब पुण्य हैं, क्योंकि इनसे अन्तःकरण में विराजमान परम देवता प्रसन्न होते हैं ।

जो दीन दुखियों की सेवा नहीं कर सकता, वह क्या बुद्ध की परीक्षा करेगा । कोरा वाग् - विलास ज्ञान नहीं है । द्विवेदी जी ज्ञान योग की अपेक्षा कर्म योग पर ही अधिक बल देते हैं ।

जो जिसे प्रिय दृष्टि से देखता है वह उसके कारण नहीं, बल्कि अपने अन्तरतर के देवता के कारण । वह देवता ही स्वभाव का प्रेरक है

स्वभाव की उपेक्षा से उसी का अपमान होता है । धन हमको प्रिय है, इसलिए धन ही सब कुछ है, ऐसा नहीं समझना चाहिए । जो ऐसा समझेगा वह अन्तरतर के देवता की उपेक्षा करेगा । दृष्टि बदलने की जरूरत है ।

प्राण आशा से बड़ा है । आशा भी तो प्राण के लिए ही होती है । जिस प्रकार अरे चक्र की नाभि में अर्पित होते हैं इसी प्रकार नाम से लेकर आशा तक सब अरे प्राण रूपी चक्र में समर्पित हैं । सब कुछ प्राण के सहारे चले रहा है, प्राण को लक्ष्य में रखकर चल रहा है, प्राण ही पिता है, प्राण माता है, प्राण भ्राता है, प्राण भगिनी है, प्राण आचार्य है, प्राण ब्राह्मण है ।

सत्य तक पहुँचने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है । ज्ञान मनन के बिना नहीं हो सकता, मनन श्रद्धा के बिना असम्भव है, श्रद्धा निष्ठा के बिना बनी नहीं रह सकती और निष्ठा केवल सोचते रहने वाले के बस की नहीं । जो कर्मिष्ठ नहीं वह निष्ठावान भी नहीं । कर्म किसी सुख की आशा के बिना नहीं किया जाता । सत्य के लिए ज्ञान की और ज्ञान के लिए कर्म की आवश्यकता है ।

'यो वै भूमा तत्सुखम् ' - जो 'भूमा' है असीम है, निरतिशय है, महान है, वही सुख है । 'नाल्पे सुखमस्ति ' - जो 'अल्प' ससीम है, परिमित है, क्षुद्र है, उसमें सुख नहीं है ।

आदमी बहुत सी बातें जान जाता है । जानी हुई बात को ठीक - ठीक आचरण में लाना वास्तविक धर्म है, इसलिए बुद्धि का एक दूसरा

और विकसित कार्य है वैराग्य । जो चीज़ गलत है उसका त्याग वैराग्य का लक्षण है । कई बार आदमी जानता है कि अमुक बात झूठ है और अमुक बात सच्च है, फिर भी वह झूठ का छोड नहीं पाता । विवेक उसे हो जाता है लेकिन वैराग्य नहीं होता । विवेक से सत्य और असत्य का भेद खुल जाता है, वैराग्य से असत्य को परित्याग करने की शक्ति मिलता है असत्य को छोड देने पर केवल सत्य ही बचता है, इसलिए कभी कभी पुराण ऋषियों ने असत्य का त्याग करने का उपदेश दिया है । उनके मत से सत्य स्वयं सिद्ध है ।

मनुष्य की अन्तरात्मा में विधाता ने प्रज्ञा नामक एक शक्ति दी है जो अनुभव कराती है । वह बुद्धि का विषय नहीं, बोध का विषय है ।

ग) 'अनामदास का पोथा' प्रेरणा और प्रभाव :-

अनामदास का पोथा अर्थ रैक्व - आख्यान आचार्य द्विवेदी का चौथा उपन्यास है । उपन्यासों में भारतीय तत्व चिन्तन और आध्यात्मिक चिन्तन का समाहार द्विवेदी जी जिस सुन्दरता के साथ करते हैं वह उनके उपन्यासों के माध्यम से सामने आ चुका है परन्तु इस उपन्यास में उनका लक्ष्य ही भारतीय अध्यात्म साधना को प्रस्तुत कर जीवन के चरम लक्ष्य की ओर संकेत करना है । रैक्व की कथा छान्दोग्य उपनिषद् से ली गई है परन्तु वहाँ से उनके केवल कुछ ही सूत्र ही ग्रहण किए गए हैं, उसे सुन्दर, विस्तृत और व्यवस्थित कथा का स्वरूप आचार्य जी ने कल्पना के ताने बाने

के आधार पर ही दिया है । छान्दोग्य में रैक्व एक सिद्ध ऋषि के रूप में आते हैं । इस उपन्यास में उनके इस स्वरूप को, जहाँ तक सम्भव हो सकता है रक्षा करते हुए उन्हें छात्र - रूप में प्रस्तुत किया है । प्राचीन शिक्षा - पद्धति किस प्रकार के स्तर को समझकर उसके सम्पूर्ण जीवन के सन्दर्भ में विचार कर, उसके जीवन को गति देती थी, इसका समाहार प्रासंगिक और ध्वनित रूप में इस उपन्यास में हुआ है । इसमें लेखक की मूल दृष्टि आध्यात्मिक प्रश्नों पर ही केन्द्रित रही है परन्तु यह उपन्यास जीवन के अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नों से उलझता हुआ चला है ।

आचार्य द्विवेदी ने दर्शन की सभी समस्याओं को और आधुनिक विचार धाराओं से उत्पन्न सभी शंकाओं को रैक्व को केन्द्र स्थान में रखकर देखा है । प्रारम्भ में उसे वायु पर विश्वास करने वाले एक ऐसे भौतिक विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया है जो परीक्षण किए बिना किसी भी सत्य को स्वीकार नहीं करता और जो वायु को ही समस्त जगत का मूल बताता है । वह समाधि साधक है और समाज से दूर रहकर एकान्त साधना करता है । इस साधना से उसे अनेक सिद्धियाँ भी मिली हैं, जिनके विषय में उसे स्वयं भी कुछ ज्ञात नहीं है । समस्त सृष्टि का मूल तत्व वायु है इस निष्कर्ष पर वह प्रयोग द्वारा ही पहुँचा है । किसी ऋषि ने जल को ही सृष्टि का मूल कहा था और दालभ्य, शिलक तथा जीवल की मूल तत्व चर्चा में उन्होंने क्रमशः जल, धरती और आकाश को ही स्थापित करते हुए सुना था । परन्तु आँधी तूफान की शक्ति और जाबाला को बेहोशी से उठाने के प्रयास में वह वायु की शक्ति का परीक्षण कर चुका

था । भौतिकवाद वैज्ञानिक रैक्व के इस रूप के साथ ही इस उपन्यास में तत्व - ज्ञान के चिन्तन का प्रारम्भ होता है, जिसको पहला झटका जाबाला को देख कर लगता है । उस के वार्तालाप से उसे ज्ञान - साधना के एक अन्य तत्व की जानकारी होती है और वह है प्रत्यय - 'प्रत्यय आत्मा का धर्म है । पद और पदार्थ का यह प्रत्यय जोड़ता है ।' और साथ ही जाबाला, याज्ञवल्क्य और जनक के वार्तालाप की कथा सुना कर ज्योति के अनेक रूपों - सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि के विषय में जानकारी देकर उसे एक नया शब्द देती है और वह है आत्मा - 'हाँ इसी लिए मैं सोचती हूँ कि जिसे तुम वायु कहते हो, वह वही चीज़ तो नहीं है जिसे जनक 'आत्मा' कहते हैं । सोचो, सोचने में क्या दोष है ?' जाबाला की यह भेंट, उसका सौन्दर्य उसका ज्ञान तथा उसकी [illegible] बातें सभी कुछ रैक्व को प्रेरणा का केन्द्र बन जाता है और वह अन्त तक इस केन्द्र बिन्दु के सहारे अपनी समस्त [illegible] ज्ञान यात्रा पूर्ण करता है ।

द्विवेदी जी ने प्रथम अध्याय में ही शुष्क ज्ञानवादी योगी रैक्व के साथ जाबाला की भेंट कराके इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि ज्ञान की साधना ना तो समाज से दूर रहकर एकान्त में हो सकता है और ना ही किसी तीव्र मानसिक प्रेरणा के अभाव में उसका विकास सम्भव है । इस उपन्यास में रैक्व और जाबाला की केवल दो स्थानों पर भेंट करायी गई है । वह कभी भी साकार, प्रेरणा के रूप में उपस्थित नहीं है, परन्तु रैक्व का मानसिक आकर्षण ही उसे आगे बढाता रहता है । लेखक कहना चाहता है कि ज्ञान - साधना के लिए जिस प्रेरणा की आवश्यकता है उसका रूप मूलतः मानसिक ही है: शुद्ध और सात्विक है । प्रथम अध्याय

में ही रैक्व के लिए एक प्रेरणा स्रोत निर्धारित कर उन्होंने उसका सम्पर्क ऋतम्भरा, औपस्तिपाद, और आश्वलायन एवं जटिल मुनि से करा के उसके आध्यात्म ज्ञान का उत्तरोत्तर विकास कराया है । ऋतम्भरा का सम्पर्क उसमें जन सेवा का भाव विकसित करता है और ऋषि औपस्ति से उसे प्राप्त करता है, तत्व ज्ञान एवं आश्वलायन तथा जटिल मुनि उसके साधना मार्ग का निश्चित करते हैं । तीनों ही बातें एक दूसरे की पूरक हैं । ऋतम्भरा जहाँ लोक सेवा का महत्व समझाती है वहाँ तत्व - ज्ञान की भी बात करती है और औपस्तिपाद जहाँ तत्व ज्ञान समझाते हैं, वहाँ लोक सेवा और उसकी प्रेरणा शुभा के महत्व को भी संकेत देते हैं । आश्वलायन और जटिल का सम्बन्ध साधना - पथ स्थिर करने में ही है ।

जाबाला के सम्पर्क में रैक्व को जिस नए तत्व ' प्रत्यय ' का ज्ञान होता है उसे वह अपने परीक्षण से भी सत्य पाता है - 'जब मैं कहता हूँ शुभा तो वह पदार्थ अनायास ही मेरे मन में आ जाता है । आपके मन में नहीं आयेगा क्योंकि आप उसे नहीं जानते । जानते हैं वह पदार्थ मेरे मन में क्यों आ जाता है ? प्रत्यय के बल से । अगर किसी दिन मैं उसे [illegible] फिर देखूँ तो पहचान लूंगा कि यह शुभा है । आप नहीं पहचानेंगे क्योंकि पद और पदार्थ को जोड़ने वाला पदार्थ, प्रत्यय मेरे पास है, आप के पास नहीं ।'[1]

प्रत्यय का यह प्रसंग रैक्व के मन में आत्मा के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करके यहीं समाप्त हो जाता है । आगे इस की चर्चा और कहीं भी नहीं होती ।

1- अनामदास का पोथा' हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0-43

प्रत्यय जिस आत्मा का धर्म है वह आत्मा क्या है, यह जिज्ञासा रैक्व के मन में उठती है क्योंकि जिस वायु को वह चरम तत्व स्वीकार करता है प्रत्यय उसमें नहीं रहता, वह स्वयं वायु रूप नहीं है । प्रत्यय के अतिरिक्त अन्य ऐसे प्रश्न उसके मन में उठते हैं जैसे - 'मन क्या है ? प्राण क्या है ? निद्रा और स्वप्न क्या है ? वायु को मूल तत्व मानने पर यह प्रश्न अपरिभाषित रह जाते हैं और वह ज्ञान के लिए गुरु की खोज में चल पड़ता है । ऋतम्भरा से भेंट होने पर वह सीधा प्रश्न करता है -'मैं मन और आत्मा के विषय में जानने को व्याकुल हूँ, छटपटा रहा हूँ स्वप्न और निद्रा का रहस्य जानने के लिए । आप यह सब बतायेंगी न ?'[1] और इन का उत्तर भी इस उपन्यास का कार्य है । ऋतम्भरा उस को वरुण और भृगु की कथा के माध्यम से समझाती है - 'देखो बेटा, इसी शरीर में अन्न का बना आँख भी है, प्राण भी है, मन भी है, विज्ञान भी है, आत्मा भी है । इनमें सत्य भी है, पर उत्तरोत्तर बलवान है ।'[2]

रैक्व की समझ में यह नया ज्ञान नहीं आता वह किसे विस्तार से समझना चाहता है, जिसके लिए वह उसे अपने पति औपस्तिपाद के पास ले जाती है । उपन्यास की शेष कथा इसी ज्ञान का विस्तार है, रैक्व को यह ज्ञान समझने का प्रयास है ।

इस विषय में औपस्तिपाद की स्थिति को स्पष्ट करते हुए ऋतम्भरा कहती है - 'देख बेटा तुझे महान तत्व ज्ञानी औपस्ति ऋषि के पास

1- अनामदास का पोथा - हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-50
2- - वही पृ0-52

ले जा रहा हूँ । इन्होंने सृष्टि के रहस्य को समझा है, अपने पूर्वज उषस्त के चिन्तन मनन का परिष्कार किया है और याज्ञवल्क्य के अध्यात्म ज्ञान को तप और स्वाध्याय के द्वारा और भी उज्ज्वल बना दिया है ।'[1]

लेखक यह कहना चाहता है कि रैक्व के उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर उषस्त और याज्ञवल्क्य के चिन्तन के समन्वय के आधार पर प्रस्तुत किए जाएँगे । यह समन्वय लेखक ने अपने चिन्तन द्वारा किया है । जिस औपस्तिपाद के विषय में लेखक ने ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि - 'लगता है महर्षि औपस्ति बृहदारण्यक के ऋषि उषस्त के पुत्र हैं और याज्ञवल्क्य से काफी प्रभावित हैं ।'- वह और कोई नहीं स्वयं लेखक हैं ।

उपन्यास में औपस्तिपाद द्वारा रैक्व को दिए गए तीन उपदेशों की योजना की गई है - पाँचवें, आठवें और पन्द्रहवें अध्याय में । उपदेशों के बीच यह अन्तराल बड़ा ही सोद्देश्य है । प्रथम उपदेश में रैक्व अपनी ज्ञान - सीमा तथा तपस्या के साथ - साथ अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करता है । वह वायु, अग्नि सूर्य, चन्द्र, जल तथा वाणी , चक्षु श्रोत्र और मन के विषय में अपनी धारणा प्रस्तुत करके पूछता है - 'भगवन, यह आत्मा क्या चीज़ है ? मैं मन के बारे में भी जानना चाहता हूँ । कुछ लोग कहते हैं मन प्राण से भी सूक्ष्म है, स्वप्न में वही देखने वाला होता है । मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि मन का क्या स्वरूप है और स्वप्न का क्या रहस्य है ।'[2]

औपस्तिपाद उसके ज्ञान - अर्जन में सत्संग की कमी बताते हुए प्रजा-

---

1.- 'अनामदास का पोथा' - हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-53
2- - वही पृ0-54

पति, इन्द्र और विरोचन के आख्यान के द्वारा भौतिकवादी दर्शन को सोमार्ग स्पष्ट करते हैं और आत्मा के स्वरूप का विवेचन करते है । विरोचन केवल यही जानकर सन्तुष्ट हो जाते हैं कि जागृतावस्था में जो कुछ दिखता है - यह जगत् और विभिन्न प्रकार के प्रतिबिम्ब - वही आत्मा है जो अमृत अभय है और यही ब्रह्म है । तात्पर्य अधुरा ही है । परन्तु इन्द्र शरीर को नश्वर मानकर बार - बार आत्मा का स्वरूप जाननेके के लिए प्रजापति के पास जाते रहे और वह यह जान सके कि जागृतावस्था में जो कुछ दिखाता है वही तो आत्मा है, जो स्वप्न में देखता है वह भी आत्मा है, जो सुषुप्ति में विद्यमान है वह भी आत्मा है । आत्मा अशरीरी है, मृत कर्ता है, स्वयं को शरीर से अलग अनुभव करती है। मन आत्मा का दैव - चक्षु है, दिव्य नेत्र है । परन्तु यह भी आत्मा का साधन है जो मन के द्वारा मनन करता है, वही आत्मा है ।

यहाँ ओपनिषद ने रैक्व को यह समझाना चाहा है कि उसने अब तक के चिन्तन द्वारा जिस तत्व को समझा है वह विरोचन की तरह शरीर के स्तर पर आकर रुक गया है । ज्ञान उससे भी आगे है । परम तत्व की खोज के लिए और आगे जाना होगा और इसके लिए उन्होंने वैदिक चिन्तन प्रणाली को प्रस्तुत किया है। वेदों में भी रैक्व की तरह वायु को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा गया है । परन्तु दोनों में मौलिक अन्तर है - 'वैदिक विचारक एकेक तत्ववादी थे । वे जिस समय जिस देवता की स्तुति करते थे उस समय उसी को एक मात्र परम शक्ति के रूप में प्रत्यक्ष करते है । कभी वे सूर्य को, कभी अग्नि को कभी अन्य देवता को परम शक्ति का विग्रह

मानकर उसी परम शक्ति की बात कहते थे जिसका एक रूप वह ध्यानस्थ देवता होता था । वायु भी उसी का रूप है । उसी के माध्यम से वे परम शक्ति के अनुभव करने का प्रयत्न करते थे । तुम शायद ऐसा नहीं करते । मेरा अनुमान ठीक है सौम्य ।'[1]

तत्वज्ञान का उपदेश यहीं समाप्त हो जाता है । परन्तु मूल बात यही है कि करणीय क्या है ? इस का उत्तर औपनिषदिक ऋषि, रैक्व की मानसिक स्थिति और स्तर के अनुसार देते हैं । उसे तप, स्वाध्याय, मनन, निदिध्यासन और सत्संग, सदाचार, स्वाध्याय, दृढ़व्रत ब्रह्मचर्य का सापेक्ष महत्व बता कर एकान्त तपस्या के स्थान पर दुखी कातरता का दुख अपनाने तथा लोक - सेवा करने को कहते हैं -।-- 'सर्वत्र आत्मानुभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण है । दूसरों के सुख दुख के लिए अपने आप को दलित द्राक्षा की तरह निचोड़ कर देना । इससे बड़ा तप मुझे मालूम नहीं ।' और यह एकान्त साधना के साधक के लिए सब से बड़ा उपचार था जिसकी ओर गुरु ने संकेत किया है । हाँ, यह संकेत ही है व्याख्या नहीं । जहाँ तक तत्वज्ञान और करणीय कर्म का प्रश्न है, औपनिषद ने वहाँ तक रैक्व की सभी शंकाओं का समाधान कर आत्मा और ब्रह्म के स्वरूप का तात्विक विश्लेषण किया है । परन्तु रैक्व की एक और कठिनाई भी है जो उसने पूछी नहीं है, परन्तु ऋषि उसे भली भाँति समझते हैं और वह है क्षुधा । इस कठिनाई के समाधान के लिए नहीं बल्कि समाधान की ओर ले जाने के लिए धर्म अर्थ काम के परस्पर अविरोधी रूप का सिद्धान्त बताते हैं, विवाह

।- अनामदास का पोथा हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-58

का महत्व बताते हैं, परन्तु रैक्व को यह ठीक समझ नहीं आता ।

आगे दो अध्यायों में एक का सम्बन्ध रैक्व के साथ है दूसरे का जाबाला के साथ । दोनों ही अध्याय गाड़ीवान की पत्नी के माध्यम से लौक सेवा के महत्व का उद्घाटन करते हैं । यहाँ लेखक का ध्यान मूलतः साम्यवादी भौतिकवाद पर केन्द्रित है और उसने भरसक उन समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है जो इस चिन्तन ने हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है । लेखक ने इस दर्शन का विरोध नहीं किया है, उसे स्वीकृति इस प्रदान की है, परन्तु यह स्वीकृति आंशिक है । सत्य उससे आगे है । एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य जो छठा अध्याय करता है वह है रैक्व को मात्र तत्व ज्ञान और साधना से हटा कर लौक जीवन में प्रतिष्ठित करने का प्रयास । औपस्ति पाद ज्ञानी है उन्होंने ज्ञान दिया । परन्तु कृतम्भरा नारी है उसमें करुणा का प्राधान्य है, अतः लेखक ने उसी के माध्यम से रैक्व को लोक - सेवा की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया है । यह अध्याय सर्वप्रथम हमारा ध्यान साम्यवाद द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण शोषक और शोषित की ओर खींचता है । गाड़ीवान की स्त्री अजका राज कुमारी के ननिहाल जाते समय तूफान में अपने पति के मरने और उसके शव न मिलने की बात कहती है - 'राजा के आदमियों ने मुझे उसके मरने की सूचना भी नहीं दी । पता नहीं उन लोगों ने उसका शव कहाँ फेंक दिया । राजकुमारी के जीवित लौट आने पर राज्य में बहुत खुशियाँ मनाई गयी पर इस दुखिया की याद भी किसी को नहीं आई ।' यह बात एक यज्ञ - विरोधी, ब्राह्मण विरोधी, देवता - विरोधी, एकान्त मनन विरोधी अज्ञातनाम महात्मा सातवें अध्याय में ओदम्बरायण से कहते

हैं और उसका ध्यान अकाल के कारण जनता की ओर खींचते हैं :- राजा जानश्रुति के राज्य में एक नहीं अनेक स्त्री पुरुष, बालक, वृद्ध भूख से प्यास से और रोग से भी व्याकुल हैं ।' वह इसे एक आध्यात्मिक अपराध कहते हैं । औदुम्बरायण भी राजा जानश्रुति की स्थिति से क्षुब्ध है - 'राजा जानश्रुति ब्रह्म तत्व को जानने के लिए व्याकुल हैं, इधर प्रजा में त्राहि - त्राहि मची हुई है । मैं तो किंकर्तव्य विमूढ हो गया हूँ बेटो ।" यहाँ राजाजानश्रुति और रैक्व दोनों की स्थिति एक जैसी है दोनों ही ब्रह्म ज्ञान के जिज्ञासु हैं और दोनों जो जगत में फैले दुख दर्द से अनभिज्ञ हैं । यही साम्यवादी दर्शन की एक अन्य बात को भी स्वीकृति औदम्बरायण द्वारा करायी गई है - 'केवल अन्न वितरण से काम नहीं चलेगा । फिर सारी प्रजा को भिक्षा पर आश्रित भी तो नहीं बनाया जा सकता । उन्हें काम देना होगा ।'

बात बहुत स्पष्ट है । दया करके दान देना प्रजा के स्वाभिमान को नष्ट करना है अतः उसको उसका अधिकार देकर काम देकर ही समस्या को सुलझाया जा सकता है । ब्रह्म - ज्ञान की अपेक्षा लोक - सेवा का ही महत्व अधिक है । उधर ऋतम्भरा भी धर्म के वास्तविक स्वरूप को परिभाषित करते हुए रैक्व से कहती है :- 'धर्म कुछ कर्तव्यों और आचरणों से प्रकट होता है सुना है बेटा, आजकल कुछ तत्वज्ञानी यह भी कहने लगे हैं कि ईश्वर या ब्रह्म की सत्ता माने बिना भी धर्म का आचरण किया जा सकता है । जो अपने और की सुख सुविधा का ध्यान न रखकर दूसरों के दुख को दूर करने का प्रयत्न करता है, सत्य से च्युत नहीं होता, दूसरों

का कष्ट दूर करने के लिए अपने प्राण तक त्याग सकता है वही धार्मिक है । वह परम या चरम तत्व के बारे में क्या मानता है यह बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है कि वह कैसा आचरण करता है, उसके लिए कितना त्याग कर सकता है यही तय करेगा कि वह धर्म परायण है या नहीं ।'[1]

औदुम्बरायण का ध्यान कृजा की ओर अकर्षित आकृष्ट करने वाला अज्ञात नाम महात्मा इस धर्म को मानने वाला है । गाड़ीवान का स्त्री और बच्चे को खोजने के पूर्व वह कहता है - ' दुखियों का दुख दूर करना ही सच्ची आध्यात्मिक साधना है, यही तप है, यही मोक्ष है ।'

इस प्रकार कत्यायनी और महात्मा के माध्यम से लेखक ने साम्यवादी चिन्तन के एक पक्ष को स्वीकृति प्रदान की है और रैक्व तथा जाबाला दोनों को जन - सेवा की ओर प्रेरित किया है ।

इन्हीं अध्यायों में साम्यवाद के एक और सिद्धान्त को लेखक ने स्वीकृति प्रदान की है । वह सिद्धान्त है प्रत्यक्ष दिखने वाला तत्वों और मन, की इच्छाओं की स्वीकृति । कात्यायनी रैक्व से कहती है - 'पर मैं उस नाशमान कहे जाने वाले पदार्थों की उपेक्षा की बात नहीं सोच पाती । आखिर मनुष्य के आचरण उसके संकल्प से ही स्थिर होते हैं । संकल्प तो मन में ही होगा । मन की हम कैसे उपेक्षा कर सकते हैं । कर्म तो इन्द्रियों द्वारा ही निष्पन्न होगा । हाँ नाशमान, पर ये प्राण, मन, इन्द्रिय, शरीर - ये ही तो हमारे साधन है । इन की उपेक्षा कैसे की जा सकती है ।'[2]

1- अनामदास का पोथा' हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-64

2- - वही - पृ0-65

उधर जाबाला भी यही कहती है - 'मेरा अन्तरतर आज चिल्ला कर कह रहा है कि शरीर, मन, प्राण सभी चिन्तनर साधन तभी सार्थक होंगे जब उन्हें दुखियों के दुःख दूर करने में लगा दिया जायेगा ।'[1]

निश्चय ही यह साम्यवाद के मूल तत्व की स्वीकृति है । लेखक ने जगत को नश्वर, वस्तुओं को, शरीर को विनाशमान कहा है, परन्तु त्याज्य और उपेक्षणीय नहीं कहा है । परन्तु बल इस बात पर है कि यह अन्तिम सत्य नहीं है । ऋतम्भरा के कथनों में भी इसी ओर संकेत मिलते हैं परन्तु जिस सत्य की ओर ध्यान खींचा गया है वह जगत की सत्यता की स्वीकृति है । वह आत्मा की अनश्वरता के सम्बन्ध में कहती है, 'मेरी समझ में यह सब नहीं आता । मेरे लिए इनकी एक ही उपयोगिता है कि ऐसा करना चाहिए जिससे केवल नाशमनन पदार्थ ही जीवन का लक्ष्य नहीं बन जाये ।'[2]

जब परम तत्व की खोज के बेकार होने के विषय में रैक्व प्रश्न करता है कि माँ, यह परम तत्व की खोज बेकार है ?' तो वह स्पष्ट उत्तर देती है - 'बेकार ते नहीं बेटा, कई बार यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कर्तव्य क्या है और क्या कर्तव्य नहीं है । उस समय यदि उस परम तत्व का स्वरूप स्पष्ट रहे तो उसी की उपेक्षा में निर्णय करना आसान होता है ।'[3] और यही लेखक ऋतम्भरा के माध्यम से फ्रायड़ के इस कथन का भी उत्तर देता है कि 'स्त्री - पुरुष के सभी पारिवारिक सम्बन्ध मनुष्य के बनाये हैं, मौलिक नहीं है ।' रैक्व जब

1- अनामदास का पोथा हज़ारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-72
2- - वही - पृ0-65
3- - वही - पृ0-64

यह पूछता है कि सभी स्त्रियों को पारिवारिक सम्बन्धों में ही क्यों पुकारा जाता है ? तो वह उत्तर देती है - 'अपने भले के लिए । पारिवारिक सम्बन्ध चाहे वे वास्तविक हों या कल्पित मनुष्य के अवचेतन को पवित्र और निर्मल बनाते हैं । जिस दिन लोग इस बात को भूल जायेंगे उस दिन समाज उच्छिन्न हो जायगा ।'[1]

आठवें अध्याय में स्थिति यूँ है कि श्वेतकेतु औपस्तिपाद से आत्मा, मन, स्वप्न, सुषुप्ति आदि का ज्ञान प्राप्त कर चुका है और अजुका तथा ऋतम्भरा के सम्पर्क के कारण लोक - सेवा का महत्व और तप - तपस्या, ज्ञान का उद्देश्य जन - सेवा है, यह जान चुका होता है । आठवें अध्याय में वह पुनःऔपस्तिपाद से उपदेश प्राप्त करता है और उपदेश का विषय होता है वैश्वानर का स्वरूप ।

ध्यान देने की बात है कि इस उपदेश के समय ऋतम्भरा भी उपस्थित है । इस उपस्थिति के द्वारा लेखक ऋतम्भरा के लिए भी इस ज्ञान की आवश्यकता सिद्ध करना चाहता है क्योंकि छठे अध्याय में उसने जो कुछ भी कहा है उससे लगता है कि लोक - सेवा का वास्तविक स्वरूप वह भी समझ नहीं पाई है ।

वैश्वानर का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए लेखक ने औपस्तिपाद से कैकेय देश के राजा अश्वपति से वैश्वानर स्वरूप के जिज्ञासु प्राचीन शालसत्यज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन औद्दालिक के वार्तालाप की कहानी कहला कर प्रकाश, आदित्य, वायु, आकाश, जल और पृथ्वी के सत्य होने की

1- अनामदास का पोथा' हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ0-66

स्वीकृति देते हुए भी सभी को आंशिक सत्य बताया है और वैश्वानर रूप को इन सबका समाहार करने वाला, विराट पुरुष कहा है । अश्वपति अपने उपदेश का सारांश इस प्रकार प्रस्तुत करता है - 'उस सर्वत्र वर्तमान 'वैश्वानर आत्मा' का विराट रूप देखो । तेजोमय द्यौलोक उसी मूर्धा है, विश्व रूप आदित्य उस का चक्षु है, पृथग्वर्त्मा वायु उस का प्राण है, अनन्त आकाश उस का धड़ है, रयिवर्य रूप जल उसका बस्ति प्रदेश है, पृथ्वी उसके पाँवों हैं, यज्ञ की वेदी उस का छाती है, यज्ञ कुशा उसके रोम हैं, गार्हपत्याग्नि उसका हृदय है । अन्वाहार्य - पचनाग्नि उसका मन है । आहवनीयाग्नि उस का मुख है ।'[1]

निश्चय ही यह एक ऐसी विराट् अनुभूति है जो सम्पूर्ण जगत को, जड़ चेतन को, सद् रूप - अरूप को अपने परिधि में ले लेती है । जहाँ सम्पूर्ण विश्व ही एक पुरुषोत्तम रूप है वहाँ करुणा के अतिरिक्त और रह ही क्या जाता है ? वहाँ हिंसा की बात कहाँ उठती है ? इस तत्व ज्ञान के व्यावहारिक उपयोग की ओर लेखक ने निर्देश किया है । औपमन्यव कहते हैं - 'जो ऐसा समझकर सेवा में प्रवृत्त होता है उसमें अहंकार नहीं होता । अहंकार सेवा की महिमा को ही कम नहीं करता, वह सेवा को सेवा ही नहीं रहने देता ।'[2]

अध्याय के अन्त में पुनः औपमन्यव इस बात की ओर संकेत करते हैं कि अपने स्वभाव के अनुसार इनमें से किसी एक की उपासना के द्वारा पूर्ण वैश्वानर की उपासना तक पहुँचा जा सकता है । वह रैक्व के स्वभाव का विश्लेषण करके उसे उसके स्वभाव का साक्षात्कार कराते हैं ।

1- 'अनामदास का पोथा' हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-78

2- -वही -- पृ0-79

वह वायु को सत्य मानता है और साथ ही उस का आकर्षण शुभा के प्रति है । अतः उस का झुकाव प्राण तत्व की ओर भी है । अतः वह उसे उपदेश देता है :- 'प्राण के सूत्र को पकड़ करतुम परम सत्य को प्रिय रूप में पा सकते हो और प्रिय रूप का किंचित साक्षात्कार भी तुम्हें ब्रह्म तक, महासत्य तक पहुँचा सकता है अर्थात् तुम्हारा स्वभाव प्रेम है उसी के माध्यम से तुम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हो ।'[1]

तात्पर्य यह है कि साध्य और साधन दोनों स्पष्ट हैं । इसी साधन की स्पष्ट व्याख्या आश्वलायन और जटिल मुनि प्रस्तुत करते हैं । इस अध्याय का अन्त ऋतम्भरा के एक ऐसे गीत से होता है जिसका एक शब्द मानव कल्याण की गहरी भावना में, जीवन - मात्र के प्रति करुणा में डूबा हुआ है । यह गीत इस बात का संकेत करता है कि ऋतम्भरा पर इस उपदेश का क्या प्रभाव पड़ा है ।

वैश्वानर के इस तत्व - ज्ञान के साथ रैक्व को वास्तविक जीवन की समस्याओं का साक्षात्कार करने के लिए ऋतम्भरा के साथ ग्राम - यात्रा करने तथा दूसरों के दुख दर्द अनुभव करने के लिए जीवन के वास्तविक क्षेत्र में छोड़ दिया जाता है । लेखक ऋतम्भरा के माध्यम से उसकी शंकाओं का उत्तर देते हुए आधुनिक युग के एक अन्य मनोवैज्ञानिक जुंग का उत्तर देता है जिसने जिजीविषा को ही अन्तिम माना है । रैक्व के उद्विग्न होने पर ऋतम्भरा उसे उद्विग्न रहकर प्राणि - मात्र में अविनाशवर सत्व-प्रभु को देखने को कहती है और इसी बीच आ जाती है मामा की कथा जो अपने सीमित साधनों के बीच भी किसी प्रकार से साधन जुटा कर

1- अनामदास का पोथा' हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-80

भूखे बच्चों के प्राणों का रक्षा करता है । यह कथा उसे और अधिक विचलित करती है और वह सच्चाई के साथ अनुभव करता है कि 'मैं जो गाड़ी खींच के नीचे बैठकर तप कर रहा था वह झूठा तप था । सही तपस्या गाड़ी चलाकर ही की जा सकती है ।' उसका विश्वास प्राण तत्व की मौलिकता में और भी अधिक दृढ हो जाता है । वह उसी को आत्मा समझकर ऋतम्भरा से प्रश्न करता है - 'यही (जिजीविषा') क्या वह चीज़ है जो विनाशमान पदार्थों के बीच अविनश्वर है, विनश्यत्सुविनश्यन्तम ? दुर्वार जिजीविषा, जीते रहने की इच्छा ?' यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह पदार्थ की सत्यता से ऊपर उठकर प्राण की सत्यता की अनुभूति तक पहुँच गया है और उस बिन्दु पर आकर रुक गया है जहाँ जुंग जिजीविषा को ही मूल सत्य स्वीकार कर लेता है । परन्तु ऋतम्भरा उसे इस प्राण तत्व से आगे ले जाना चाहती है, प्राण से आत्मा की ओर ले जाना चाहती है । वह उत्तर देती है- 'मुझे लगता है बेटा, जिसे लोग आत्मा कहते हैं वह इसी जिजीविषा के भीतर कुछ होना चाहिए । ये जो बच्चे हैं किसी की टाँग टूट गई है, किसी का पेट फूल गया है, किसी की आँख सूज गई है - ये जो जारें तो इनमें बड़े बड़े ज्ञानी और उद्यमी बनने की सम्भावना है । सम्भावना की बात कर रही हूँ । अगर यह सम्भावना न होती तो शायद जिजीविषा भी न होती । आत्मा उन्हीं अज्ञात - अपरिचित अननुध्यात सम्भावनाओं का द्वार है । देख रे, सृष्टि चलती रहेगी । जो लोग अलग बैठ कर इसे बन्द करने का सपना देखते हैं वे भीते हैं । जिजीविषा रहेगी तो जीवन रहेगा, जीवन रहेगा तो अनन्त सम्भावनाएँ भी रहेंगी । सब चलता रहेगा । यही प्रकृति

है । सुनियन्त्रित रूप से चलाने का प्रयास शुभ है । वही संस्कृति है । प्रकृति को सुनियन्त्रित रूप से चलाने का नाम ही संस्कृति है । -- उसे (प्राण) को बचाये रखने की इच्छा जिजीविषा है और अनन्त सम्भावनाओं की ओर उन्मुख करना जिजीविषा का उद्देश्य जान पड़ता है । प्राण ही आत्मा नहीं है, प्राण को बचाई रखने की इच्छा का उद्देश्य हो तो हो भी सकता है । पर बेटा, प्राण को आत्मा तो नहीं माना जा सकता ।"[1]

और यह वही उत्तर है जो लेखक जुंग को देना चाहता है । जुंग की विचारधारा के सामाजिक पक्ष को स्वीकृति देते हुए लेखक जीव की मूल प्रेरणा जिजीविषा नहीं मानता क्योंकि वह तो उन अनन्त सम्भावनाओं तक पहुँचने के साधन, प्राण की रक्षा का प्रयास है । वे अनन्त सम्भावनाएँ तो प्राण से भी सूक्ष्म - तत्व आत्मा के साक्षात्कार से उपलब्ध होती है ।

औपनिषद का दूसरा और अन्तिम उपदेश पन्द्रहवें अनुच्छेद में है और इसे प्राप्त करने के पूर्व रैक्व समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर चुका होता है । अनेक आश्रमों में जाकर अनेक गुरुओं से ज्ञान प्राप्त कर चुका होता है । अनेक साधियों के साथ उसका भिन्न - भिन्न विषयों पर वार्तालाप हो चुका है । आश्वलायन और जोटल मुनि उसे साधन का महत्व बता चुके हैं । गुरु यह समझते हैं कि अभी तक रैक्व प्राण तत्व की ही अनुभूति कर पाया है, वह आत्म - तत्व की अनुभूति नहीं कर पाया है । अतः सर्वप्रथम वह नारद द्वारा मन्त्रविद् और आत्मविद् की स्थितियों पर

1- अनादास का पोथा - हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-87-88

उठाई गई शंका और सनत्कुमार द्वारा दिए गए उत्तर के आधार पर रैक्व का यह समझाते हैं कि नाम - ज्ञान अर्थात् शब्द - ज्ञान से वाणी बड़ी है और वाणी से मन बड़ा है और मन से प्राण बड़ा है । प्राण को अन्य अनेक विशेषणों और उदाहरणों द्वारा समझ कर वह प्राण ब्रह्म की उपासना का अर्थ करते हैं - 'निरन्तर आगे बढ़ते जाना ।' यही आत्मविद् का अर्थ भी है - आत्मविद् वह है जो कहीं किसी बात पर अटकता नहीं, निरन्तर आगे ही और बढ़ता जाता है - और भी आगे ।' परन्तु रैक्व - तत्व पर आकर अटकता है क्योंकि उस से आगे उसे लक्ष्य नहीं दिखायी देता, अतः औपनिषदिक उसे अपने अनुभव के आधार पर यह बताते हैं कि जड़ - तत्व से सूक्ष्म प्राण - तत्व है और प्राण से भी सूक्ष्म मन - तत्व है और मन से भी सूक्ष्म बुद्धि - तत्व है जिसके दो प्रकार होते हैं - विवेक और विराग । विवेक सत्य और असत्य में भेद करता है और वैराग्य बुद्धि हमें असत्य का परित्याग करने की शिक्षा देती है । सच्चिदानन्द स्वरूप परम ब्रह्म ही चरम सत्य है ।

यही लेखक आधुनिक अस्तित्ववादियों के तर्क का उत्तर देता है । अस्तित्ववादी समस्त सृष्टि का कोई उद्देश्य नहीं मानते । उनके अनुसार सारी सृष्टि निरुद्देश्य है । लेखक का कहना है कि सारी सृष्टि और मानवी जीवन निरुद्देश्य नहीं है । उसका कुछ उद्देश्य है और वह उद्देश्य इसी परमब्रह्म की स्वीकृति में है, उसी की अपेक्षा में है - 'सब सच्चिदानन्द स्वरूप परम ब्रह्म की अपेक्षा में ही सत्य है । उन को छोड़ कर सोचो तो यह सारी सृष्टि प्रपंच मात्र और निरर्थक जान पड़ेगी । ऐसा लगेगा कि निखिल विश्व में व्याप्त क्षुद्र पिंड से लेकर मनुष्य पर्यन्त

सारी सृष्टि व्यर्थ का भटकाव मात्र है । उसका कोई उद्देश्य नहीं है । मेरा मन कहता है कि उद्देश्य है । यह सब कुछ सार्थक और सोद्देश्य है । बुभुक्षित लोगों को अन्न, पिपासित लोगों को जल, निराश लोगों को आशा और मरणोन्मुख लोगों को अमृत का प्रयोजन है । परन्तु वह इसलिए है कि सारे कार्य निखिलात्मा परम वैश्वानर की तृप्ति के लिए है । ऐसे कार्यों को न करना निखिलात्मा को धोखा देना है ।'[1] और इसके बाद ओधस्तिपाद रैक्व को बताते हैं कि वह सच्चिदानन्द परम ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं, अनुभव का विषय है और यह अनुभव 'प्रज्ञा' नामक शक्ति से होता है । तदुपरान्त उन्होंने जिन भावात्मक शब्दों का प्रयोग किया है, उस से रैक्व को गहरी अनुभूति होती है । वह अपने आप में डूब कर चरम-तत्व के आनन्द से विभोर हो जाता है और रैक्व - आख्यान का तत्व-ज्ञान यहीं समाप्त हो जाता है ।

परन्तु उपन्यास यहां समाप्त नहीं हो जाता । यह क्षणिक आत्मानुभूति क्षणिक ही रहती है । उस को स्थायित्व प्रदान करने के लिए रैक्व वास्तविक जन जीवन में जुट जाता है । जिस गाड़ी के नीचे बैठ कर वह तप करता था उस गाड़ी का उपयोग वह लोक - कल्याण के लिए करता है और आश्वलायन तथा जटिल मुनि के सम्पर्क के उपरान्त प्रेम - समाधी में डूबता है । और अन्त में इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शुभा से उद्वाह करता है ।

1- अनामदास का पोथा , हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ0-149

'अनामदास का पोथा' एक मूल्यांकन

'अनामदास का पोथा' एक मूल्यांकन

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी आधुनिक हिन्दी उपन्यासकारों में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं । अपनी ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं साधनात्मक दृष्टि के कारण वे सब से पृथक् और सबसे महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी है । उन्होंने बीसवीं शताब्दी के हिन्दी उपन्यास जगत में न केवल एक साहित्यकार के रूप में अपितु संस्कृति और इतिहास के व्याख्याकार के रूप में बहुत बड़ा योग दान दिया है । आचार्य शुक्ल के बाद द्विवेदी जी साहित्य मर्मज्ञों में माने हुए विद्वान और पण्डित माने जाते हैं । अपनी प्रथम पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में उन्होंने अपनी व्यक्तिगत चिन्तन पद्धति का आभास हिन्दी - पाठक को दिया है । अपने पूर्व साहित्यिक विश्लेषण में आचार्य द्विवेदी की दृष्टि सम्पूर्णतया मानववादी रही है क्योंकि मनुष्य के हितों की रक्षा करना वह अपने जीवन का महत्वपूर्ण कार्य समझते है । वे मनुष्य को सृष्टि का सबसे बड़ा वरदान मानते हैं ।

अतएव अपने उपन्यासों की रचना में भी आचार्य द्विवेदी एक सच्चे मानवतावादी एवं आदर्शवादी चिन्तक के रूप में हमारे सामने आते हैं । अपने चार प्रमुख उपन्यासों के द्वारा उन्होंने उपन्यास जगत में सर्वोच्च

स्थान प्राप्त किया है । विशेषकर 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के द्वारा जो उनका एक विशिष्ट ऐतिहासिक उपन्यास है उन्होंने हर्षवर्धन कालीन इतिहास का पुनर्आख्यान कर ऐतिहासिक जगत में एक नई धूम मचायी है वे मूलतः अपने उपन्यासों में भारतीय ऐतिहासिक कथानक को आधार बनाकर अपनी दृष्टि में नितान्त सामयिक रहते हैं । वे इन उपन्यासों में आधुनिक जीवन की चहल पहल से अनभिज्ञ नहीं रहते हैं । 'बाणभट्ट की आत्मकथा में हर्षवर्धन कालीन चित्र को प्रस्तुत करते हुए वे आधुनिक साम्यवादी विचारधारा के अनुकूल सामन्ती प्रथा को उखाड़ने की बार - बार दुहाई देते हैं और सामान्य जीवन में नए मानव मूल्यों की स्थापना करते हैं ।

नए मानव - मूल्यों की स्थापना करते हुए वे इस बात पर बार - बार बल देते हैं कि जनता की शक्ति सर्वोपरि है, निर्दयी और नृशंसक शासक बहुत दिनों तक जनता का शोषण नहीं कर सकता है । अपने उपन्यास 'पुनर्नवा' में भी उनकी जीवन दृष्टि अत्यन्त सुसंतुलित और व्यवस्थित रूप में स्थापित हुई है और इसी प्रकार से 'चारुचन्द्रलेखा' में भी उन्होंने नारी के नारीत्व की रक्षा कर मानव - समाज में उसको समान अधिकार देने की दुहाई दी है । कहने का तात्पर्य यह है कि नारी के प्रति प्राचीन सामन्ती दृष्टिकोण की अवहेलना करते हुए द्विवेदी जी नारी को सत्य, प्रेम, अहिंसा, सहानुभूति और श्रद्धा का पात्र मानते हैं । उन्होंने नारी को अत्यन्त महान कहकर उसके प्रति पुरुष के आकर्षण को प्राकृतिक और शाश्वत माना है । इसी प्रकार से 'अनामदास का पोथा'

में भी आचार्य द्विवेदी का नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण और भी आधुनिक हो गया है । शासक की निर्दयता, निरंकुशता और अत्याचारी भावना का बड़ा ही यथार्थ चित्रण इस उपन्यास में देखने को मिलता है । जबाला के पिता राजा जानश्रुति आँधी और तूफान से बची हुई जाबाला के सुरक्षित लौटने पर सारे शहर में शहनाइयाँ, बाजे और नगाड़े बजवाते हैं तथा एक असहाय नारी को अपने पति के बारे में कोई खबर नहीं देते हैं जो जाबाला की गाड़ी को हाँक रहा था । उसके लापता होने पर राजा का मूक व्यवहार कितना कठोर और निर्दयी था इसका यथार्थ चित्रण आचार्य द्विवेदी की ही कुशल कला का प्रमाण है । इसी प्रकार से जहाँ वे इतिहासकार और सच्चे उपन्यासकार का कार्य निभाने में सफल रहते हैं, वहाँ वे एक आदर्श साहित्यकार का भी कर्तव्य निभाने में अपने कौशल का परिचय देते हैं । चारों उपन्यासों में आचार्य द्विवेदी आधुनिक दृष्टि से प्रेम और विवाह की परिभाषा प्रस्तुत करके प्रेम को विवाह से सर्वोपरि मानते हैं । वस्तुतः यह प्रेम और विवाह सम्बन्धी अत्याधुनिक विचार धारा है और आचार्य द्विवेदी जी ने इसका पूर्ण आधुनिक ढंग से चित्रण किया है ।

आचार्य द्विवेदी जी को मूलतः साहित्य की सामाजिक उपयोगिता में गहरी आस्था थी । अतएव अपने अपने उपन्यासों के द्वारा उन्होंने इस दृष्टिकोण को दुहराया है यद्यपि औपन्यासिक विवेचन में उनकी दृष्टि अधिक व्यक्तिपरक हो रही है लेकिन फिर भी वे समाज की सार्थकता को महत्वपूर्ण स्थान देते हैं । अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते समय प्रायः

उन्होंने इस ओर ध्यान दिया है कि पारम्परिक रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और धर्मान्धता को सर्वथा निर्मूल किया जाए ताकि मानव जीवन की प्रगति उसका विकास कहीं अवरुद्ध न हो । अतएव मानव - जीवन के प्रति आचार्य द्विवेदी की दृष्टि अत्यन्त वैज्ञानिक रही है और उनका जीवन - दर्शन रूढ़ियों या मिथ्या पर आधारित नहीं बल्कि उन्होंने सर्वथा अपने चिन्तन, अपनी सिद्धान्त विवेचना और सामाजिक दृष्टि में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही अपनाया है ।

द्विवेदी जी के समस्त उपन्यास किसी विशेष - प्रतिपाद्य को लेकर लिखे गए हैं । इसलिए वे सर्वथा सर्वथा उद्देश्यपरक हैं । वे अपनी कथा के आधार - भूत तथ्यों का क्रमशः विकास करते हैं और अन्त में आकर अपने सम्पूर्ण प्रभाव को पाठकों पर एकाग्र छोड़ जाते हैं । उद्देश्य के अन्तर्गत उन्होंने अनेक समस्याओं का समाधान भी किया है और भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के अनुकूल इन्होंने धार्मिक सहिष्णुता के साथ - साथ नए मानव मूल्यों की स्थापना भी की है ।

आचार्य द्विवेदी की औपन्यासिक विचारधारा सर्वथा अपने देश, अपने राष्ट्र और अपने जीवन के प्रति एक सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण को अपनाकर आगे बढ़ी है । आधुनिक - बोध के अन्तर्गत उनका राष्ट्रीयता परक स्वर भी अतीव प्रभावशाली बन गया है और बार - बार लेखक ने देश - रक्षा, राष्ट्र - रक्षा तथा मानव मूल्यों की रक्षा पर बल दिया है ।

'अनामदास का पोथा' में वे जनवादी स्वर की पुनः स्थापना करते

हैं । उसमें रैवत - ऋषि का जीवन - साधना पर दृष्टि डालने के उपरान्त लेखक इस सत्य की स्थापना करते हैं कि सांसारिक दुःखों, कष्टों से अलग रह कर तप, त्याग का जीवन अनावश्यक है । उनके अनुसार एक तपस्वी की तपस्या की साधना का महत्व तब तक है जब तक कि वह जन-हिताय न हो और उसका प्रभाव सार्वभौमिक और सार्वकालिक होना चाहिए ।

द्विवेदी जी की विचारधारा के अनुसार तप त्याग से पूर्ण निवृत्ति-मूलक जीवन की अपेक्षा प्रवृत्ति मूलक जीवन अधिक श्रेयस्कर है और साथ ही साथ वे नियति पर विश्वास करने की अपेक्षा कर्म - मार्ग को महत्वपूर्ण मानते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि सच्चा कर्मयोगी ही सच्चा साधक है ।

मूलतः हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी की प्रतिभा का रूप हमें प्राप्त होता है । वे कथाकार, एक चिन्तक, साधक, सभ्यता संस्कृति और इतिहास के व्याख्याकार तथा भारतीय रस सिद्धान्त के पोषक के रूप में हमारे सामने आते हैं । अपने औपनिषदिक कथ्य - विषय में सर्वथा भारतीय रहकर उन्होंने भारतीय परम्परा के अनुकूल रसानुभूति का पूर्ण उद्रेक इन उपन्यासों के द्वारा कराया है । ये उपन्यास कथा भी काव्य भी, इतिहास भी तथा साधना का इतिहास भी है । भारतीय धर्म-साधना के पोषक होकर इन्होंने सामयिकदृष्टि अपना कर धर्म के प्रति नया दृष्टिकोण अपनाया है और इनके अनुसार धर्म का अर्थ परम्परागत साधना नहीं अपितु धर्म का अर्थ है - मानव कल्याण, मानव सहानुभूति, और मानव महत्व ।

द्विवेदी जी की दृष्टि इन उपन्यासों की कथा - विवेचना में सर्वथा व्याप्त रही है और व्यापकता विस्तार विश्लेषण उनके उपन्यास साहित्य का महत्वपूर्ण गुण बन जाता है । मानव सामाजिक व्यवस्था और मानव संघर्ष को प्रमुख स्थान देकर इन्होंने इस सत्य की स्थापना की है कि व्यवस्थाओं और संस्कारों का परिमार्जन और परिवर्धन अनिवार्य है । जब तक परिमार्जन और परिवर्धन नहीं होगा प्रगति का पथ प्रशस्त नहीं हो सकता और मानव सृष्टि की गति भी अवरुद्ध हो सकती है ।

आचार्य द्विवेदी के उपन्यासों के कथ्य - विषय पर दृष्टिपात करने से कहीं - कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं कहीं उनकी दृष्टि रोमांटिक हो गई है और उसका कारण यही है कि द्विवेदी जी अपने कथ्य - विषय को अधिक मनोरंजक और प्रभावोत्पादक बनाना चाहते हैं । इसी लिए औपनिषदिक आख्यान से कुछ हट कर रैक्व का जाबाला को देखकर बार - बार पीठ खुजलाना लेखक की कथा - विवेचना में एक मौलिक विचार - धारा है जो केवल प्रेमपरक जीवन को मान्यता देती है । जीवन का अर्थ नितान्त शुष्कता और नीरसता नहीं है, द्विवेदी जी के अनुसार जीवन में यदाकदा आमोद - प्रमोद, हर्ष - उल्लास का अपना एक अलग स्थान है ।

उपन्यासकार के रूप में द्विवेदी जी का जब मूल्यांकन करते हैं विशेषकर 'अनामदास का पोथा' को ध्यान में रखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य द्विवेदी की औपन्यासिक विचारधारा सर्वथा मौलिक और विचारपरक है । यह सत्य और तथ्य पर आधारित इतिहास सम्मत

है, संस्कृति के अनुकूल जिसकी विचार शक्ति भाव - पूर्ण, गम्भीर और कलात्मक है । आचार्य द्विवेदी शास्त्रज्ञ और मर्मज्ञ कलाकार हैं, उनका विवेचन और वर्णन तर्क संगत है । उनकी विचारधारा औपनिषदिक विचारधारा से बहुत कुछ नवीन भी है इसलिए वे हिन्दी के उपन्यास साहित्य में अतुलनीय सम्मान के अधिकारी हैं ।

आचार्य द्विवेदी पुरानी बातों में अधिक आस्था रखते हैं । नयों की बात को महत्व नहीं देते हैं । सब मिला जुला कर पण्डित जी परम्परावादी लेखक हैं । ऐसी दलीलें अवसर अपने को युवा जनवादी कहलाने वाले आलोचक बन्धु कहा करते हैं जिन्होंने शायद् भूल से इन वाक्यांशों पर नज़र नहीं दौड़ाई है - 'मरे बच्चे को गोद में दबाये रहने वाली बन्दरिया मनुष्य का आदर्श नहीं बन सकती । परन्तु मैं ऐसा भी नहीं सोच सकता कि हम नई अनुसंधित्सा के नशे में चूर होकर अपना सर्वस्व खो दें । कालिदास ने कहा था - कि सब पुराने अच्छे नहीं होते, सब नए खराब नहीं होते । भले लोग दोनों की ही जांच कर लेते हैं, जो वितकर होता है । उसे ग्रहण करते हैं और मूढ़ लोग दूसरों के इशारे पर भटकते रहते हैं ।'।

अन्तिम पोथी जिसका नामकरण आचार्य द्विवेदी ने अनामदास किया, संस्कृति की विकसित कड़ी श्रृंखला है । इस पोथा में एक युवक जिसे सांसारिक सभ्यता के मध्य रह रह कर लगा कर सामाजिक संस्कृति के अनुरूप विकसित किया गया है, क्योंकि अनाम के भीतर सोया हुआ कवि

।- 'कल्पलता' हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

भी है ।

एक भोले भाले ऋषिकुमार से कथा का प्रारम्भ होता है । इतना सहज स्वभाव, इतना बालपन दुनिया के प्रपंचों से दूर जहाँ कोई ज्ञान-विज्ञान नहीं है - स्त्री क्या है, समझ में ही नहीं आता । कन्या शब्द से परिचित तो है लेकिन वह होता क्या है इसका उसे ज्ञान नहीं । धीरे - धीरे ज्ञान की तलाश में भटकता पुनः उसी स्त्रीलिंग से जा टकराता है । आकर्षण होता है पर दुविधा भी है । अन्त होता है माँ की आज्ञा और सहायता से । यहाँ कोई ज्वाला नहीं है न कामाग्नि का दावानल ही । खोज है जो सही है और सही पा लेने की तलाश ही जिजीविषा है । रास्ते चलते गिरी पाई कोई चीज़ नहीं है कि फट उठाया और जेब के हवाले कर दिया । एक उदात्तता है जो भारतीय मर्यादा की पोषक है । भिक्षा माँगना गर्हित कर्म है, अपने किए का प्रतिफल लेना और उसके सहारे कष्ट में भी अपना मर्यादा न छोड़ना स्त्रियोचित्त भारतीय गौरव है । कष्ट में भी कुछ कर्म करके ही प्राप्तव्य को पाना यह आदर्श है । पराए का बिना श्रम किए खाना भिक्षा है - ' पर मैं किसान की स्त्री हूँ, भीख नहीं माँग सकती । कुछ काम काज करके मज़दूरी कर सकती हूँ ।''

अप्रतिम लेखक होने के साथ - साथ आचार्य द्विवेदी अत्यन्त ओजस्वी वक्ता थे । उनका व्याख्यान सुनकर मन और मस्तिष्क दोनों तृप्त हो जाते थे । उनके स्निग्ध सम्पर्क में कुछ समय भी रहना सुखद सुयोग से कम नहीं होता था । ईर्ष्या और द्वेष से परे रहकर वे दूसरों के गुणों की चर्चा प्रसन्न मन से करते थे । यहाँ तक कि जिन लोगों ने उनका अपकार

किया, उनके प्रति भी उन्होंने कभी कटु शब्दों का प्रयोग नहीं किया। उन्मुक्त अट्टहास उनके व्यक्तित्व का परिचायक था। आचार्य द्विवेदी प्रेरणाप्रद व्यक्तित्व का ही सुफल है कि आज हिन्दी में उनके शिष्यों प्रशिष्यों की संख्या सहस्त्रों में है। इनमें से अनेक हिन्दी के बहुचर्चित व्यक्तित्व हैं। निश्चय ही स्वर्गीय आचार्य द्विवेदी जी समस्त मानवीय गुणों से समलंकृत महापुरुष थे। यह हर्ष का विषय है कि आचार्य जी को अपने जीवन काल में ही नहीं समस्त हिन्दी जगत से समादर प्राप्त हुआ। साथ ही शासन ने भी उनकी साहित्य सेवा का सम्मान कर अपने कर्तव्य का निर्वाह किया। अनेक वर्षों तक वे इस सभा के सभापति थे।

'अनामदास का पोथा' में लेखक ने 'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल' नामक भूमिका के माध्यम से कथा के प्रारम्भ का वही ढंग अपनाया है जिसे उन्होंने अपने प्रथम दो उपन्यासों 'बाणभट्ट की आत्मकथा' तथा 'चारुचन्द्र-लेख' में अपनाया था। लेखक के अनुसार कुछ दिनों पूर्व उनके पास एक अनाम मित्र आये जिन्होंने उन्हें स्खलित पोथा दिया और यह पूर्ण अधिकार भी दिया कि वह जैसा चाहे वैसा करके उसे छपा दें। लेखक अपनी नैतिक ज़िम्मेदारी समझ कर उसे सम्पादित कर इस उपन्यास के रूप में प्रस्तुत कर रहा है। वह यह बताना चाहते हैं कि यह उनकी मौलिक कृति नहीं है, अपितु यह अनामदास द्वारा प्रदत्त पोथा ही है जिसने उसे उसी रूप में प्रस्तुत कर दिया है।

उपसंहार

उपसंहार

आचार्य द्विवेदी जी के उपन्यासों का सम्यक अध्ययन करने पर उनमें कुछ ऐसी प्रमुख विशेषताएँ लक्षित होती हैं जो उन्हें अन्य उपन्यासों से अलग कर देती है । किसी भी कृति का अध्ययन करते समय पाठक की दृष्टि सर्वप्रथम इस तथ्य का सन्धान करने लगती है कि सृजक की जीवनों के प्रति दृष्टि क्या है । उन्होंने उपन्यास रचना करते समय मानव जीवन के प्रति अपनी कौन सी धारणाओं को प्रस्तुत करना चाहा है, इस दृष्टि से आचार्य द्विवेदी जी जीवन के प्रति अतीव सहृदयत प्रतीत होते हैं । उनका दृष्टिकोण मानव मात्र के प्रति सहानुभूति पूर्ण लक्षित होता है । स्थल - स्थल पर समाज की गलत रूढ़ियों पर वे कुठाराघात करते चलते हैं । आपके उपन्यासों में एक ओर जहाँ व्यक्ति को सदाचरण से च्युत न होने के लिए इंगित किया जाता है वहीं आप यह दिखाना नहीं भूलते कि राजा तथा पालक या जननेता को अपने गुरुतर कर्तव्य का किस प्रकार पालन करना चाहिए । मानवता के शाश्वत मूल्यों के प्रति द्विवेदी जी अत्यधिक सजग दिखाई देते हैं । प्रेम, आत्मीयता, सहानुभूति, सत्य, अहिंसा, संयम, सदाचरण आदि को वे मानव - जीवन में अत्यधिक आवश्यक मानते हुए उनको ग्रहण करने पर बार - बार बल देते हैं ।

वे जहाँ भी सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि अपनाते हैं, वहाँ इन जीवन मूल्यों का निरन्तर वर्णन करना नहीं भूलते ।

'एक ओर जहाँ युग - विशेष का राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृति एवं धार्मिक परम्पराओं की सूक्ष्म व्याख्या की गया है वहाँ दूसरी ओर मानव - मूल्यों को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है ।'[1]

जीवन के प्रति द्विवेदी जी का दृष्टिकोण अत्यन्त वैज्ञानिक है । वे अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते समय निरन्तर इस बात का ध्यान रखते हैं कि रूढियों और अन्धविश्वासों को सदैव निर्मूल किया जाय ताकि मानव - जीवन में कहीं एक स्थान पर ठहराव न आने पाये । निरन्तर प्रवाहमान जीवन ही श्रेष्ठ होता है । रूढियों तथा परम्परा में समाज को निरन्तर पतन का ओर अग्रसर किया है । इसलिए आज का मानव - जीवन जब तक इन रूढियों का मूलोच्छेदन कर वैज्ञानिक दृष्टि नहीं अपनायेगा तब तक हम उन्नति के पथ पर नहीं बढ़ सकते ।

अपने प्रथम तीनों उपन्यासों की भूमिका पर प्रकाश डालने के बाद अब यह बतलाना अनिवार्य हो गया है कि ये उपन्यास किसी अन्य द्वारा प्रणीत न होकर आचार्य द्विवेदी की नितान्त मौलिक कृतियाँ हैं । उन्होंने अपने प्रयोगात्मक ढंग से पाठकों को भ्रम में डालने का प्रयत्न किया तो अवश्य है किन्तु थोड़ी सी सतर्क दृष्टि से देखने पर उनके द्वारा निर्मित यह भ्रम जाल टूट जाता है और यह स्पष्ट विदित है कि द्विवेदी जी

1- हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ - डा0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय पृ0-54

कोई साधारण सृजक नहीं अपितु अपने ढंग को एक नए आयाम के माध्यम से प्रस्तुत कर साहित्यिक रहस्यों की सृष्टि करने की कला बखूबी जानते हैं । 'अनामदास का पोथा' के इस प्रयोग पर दृष्टि डालने पर यह तथ्य अपने स्पष्टतर रूप में दिखाई देता है +-- 'शैली और भंगिमा में 'बाणभट्ट' की आत्मकथा से काफी भिन्न होने पर भी प्रयोग इसमें लगभग उसी डिवाइस का किया गया है अर्थात् पोथा मिली कहीं और से है, लेखक के ऊपर तो मात्र उसके सम्पादन और प्रकाशन की जिम्मेदारी भर दी है और इस प्रकार किसी अज्ञात अपरिचित मित्र द्वारा लिखा गया । रैक्व ऋषि का वह आख्यान अन्ततः 'अनामदास का पोथा' बन जाता है ।'[1]

सच तो यह है कि आचार्य द्विवेदी हृदय से परम भागवत् महा-मानव थे जिन्होंने उसी मनः स्थिति में जीवन को सुख - विषम पीड़ा के पथों को झेला । जो अच्छा आया उसे भी जो बुरा आया उसे भी चुपचाप स्वीकारा, किन्तु दीनता रहित एवं उत्साहित चित्त से । जो उनके समीप थे उन्हें मालूम है कि आचार्य द्विवेदी मूलतः महाभाव के उपासक थे ।

आचार्य द्विवेदी की प्रज्ञा आरम्भ से ही सजग रही । उन्होंने अपने निबन्धों और उपन्यासों में बहुत प्रयत्न के साथ ऐसे प्रश्न छोड़ रखे हैं जिज्ञासु के अभाव में जिन्हें वे अपने साथ लेकर चले गए । 'बाणभट्ट की आत्मकथा' 'चारुचन्द्रलेख' 'पुनर्नवा' और 'अनामदास का पोथा' में विशेष रूप से आचार्य द्विवेदी जी ने बहुत ऐसे स्थल छोड़े हैं ।

1- 'आलोचना' जनवरी से मार्च 1977 पृ0-104

इतना अवश्य है कि उन्होंने साहित्य - शास्त्र में उन अछूते किन्तु महत्व पूर्ण पक्षों पर अपनी लेखनी चलायी है जिसका रहस्योद्घाटन अत्यन्त आवश्यक था । उन्होंने बौद्धिक चिन्तन से कार्य करते हुए अपनी आयु के प्रत्येक क्षण का विश्व को पूरा पूरा मूल्य प्रदान किया ।

लेकिन खेद का विषय है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी 19 मई 1979 को परलोक सिधार गए । उनकी मृत्यु से चिन्तन और विचारशीलता के एक समूचे युग का अन्त हो गया है । उन जैसे व्यक्ति शताब्दियों में एक बार पैदा होते हैं । वे साहित्य और भारतीय संस्कृति के एक अतुलनीय व्याख्याता हैं । उनका देहान्त भले ही हो गया हो, लेकिन भारतीय संस्कृति और साहित्य के सन्दर्भ में द्विवेदी जी सदैव अमर रहेंगे । उन्होंने भारतीय संस्कृति के उन पक्षों का विवेचन किया जिन पर पुरातत्व वेत्ताओं और इतिहासकारों का भी ध्यान नहीं गया । उन्होंने अपनी श्रमशीलता, रचना - धार्मता और सृजनात्मकता के स्तर पर बिल्कुल नए आयामों को उद्घाटित किया है ।

द्विवेदी जी का पार्थिव शरीर आज नहीं है किन्तु साहित्य के माध्यम से उन्होंने जो कुछ भी दिया है वह हमें सदैव उत्साहित करता रहेगा और उसके माध्यम से हमें न केवल दिशा निर्देश मिलेगा अपितु वैज्ञानिक दृष्टि भी प्राप्त होगी । द्विवेदी जी ने हिन्दी के विद्यार्थियों को एक नवीन दृष्टि दी है । हमें चाहिए कि द्विवेदी जी के द्वारा दी हुई दृष्टि को हम कायम रखें और उसी पर चल कर हिन्दी की सेवा करते रहें ।

- - - -

सहायक ग्रन्थ सूची

1- हिन्दी उपन्यास : सुषमा प्रियदर्शिनी ।

2- हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययनः- चन्द्रीप्रसाद जोशी ।

3- हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद :- डा0 त्रिभुवन सिंह

4- हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डा0 गणेशन ।

5- हिन्दी उपन्यास में कथा शिल्प का विकास डा0 प्रतापनारायण टण्डन ।

6- हिन्दी का स्वातन्त्र्योत्तर विचारात्मक गद्य : डा0 सिस्टर क्लेमेंट मेरी ।

7- आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व : डा0 गणपतिचन्द्र गुप्त

पत्र - पत्रिकाएँ :-

1- साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 17 से 23 जून 1979

2- आजकल : अक्टूबर 1979

3- नागरी - पत्रिका, जून 1979 अंक (9) जुलाई से सितम्बर 1979

4- दिनमान (साप्ताहिक) : 10 से 16 जून 1979

5- नया प्रतीक : (नवम्बर - दिसम्बर 1978) - सम्पादक (अज्ञेय)

6- धर्मयुग (28 अगस्त से 3 सितम्बर 1977)

Allahabad University
Acc. No. Th3575